सप्त स्वर

डॉ० प्रेमनारायण टंडन, पी-एच० डी०
हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

२३ अक्टूबर, १९५८

उसको

जिसके कान में ये स्वर गूँजते रहेंगे।

निवेदन

प्रस्तुत संकलन में संगृहीत रचनाएँ समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर हिंदी जगत के सामने आ चुकी हैं। अन्य पत्र-पत्रिकाओं में तो सभी रचनाएँ मेरे नाम से ही प्रकाशित होती रही हैं; परंतु स्व-संपादित मासिक पत्रिका 'रसवंती' में रचनाओं के साथ मुझे अनेक छद्म नाम देने पड़े हैं। ऐसी प्रायः सभी रचनाएँ नयी लिखी ही हैं।

'गांधार-पतन' गीतिनाट्य बारह-तेरह वर्ष पूर्व 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ था। इतिहास के एक प्रतिष्ठित विद्वान ने उसे पढ़ कर कहा था—लेखक की कल्पना, कोरी कल्पना नहीं है; उसे ऐतिहासिक सत्य सिद्ध करने का भी आज प्रयत्न हो रहा है। उनकी बात से मुझे बड़ा संतोष हुआ था। मेरा विश्वास है, पाठकों को भी उक्त गीतनाट्य की मौलिकता रुचिकर प्रतीत होगी।

कुछ गद्यकाव्यों और लघुकथाओं में प्रतिष्ठित लेखकों और कवियों के विचारों की छाया मिलेगी। उन रचनाओं के शीर्षक बताना या उनका विवरण देना तो अब संभव नहीं है, हाँ, उनके लेखकों के प्रति हृदय से अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

यों तो 'जिन कवित्त केहि लाग न नीका'; परंतु मुझे सचमुच इस संकलन की कुछ रचनाएँ बहुत प्रिय हैं। सहृदय पाठकों भी इनमें से कुछ अवश्य रुचेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

२३-१०-१९५८] —प्रे० ना० टंडन

विषय-सूची

---

(१) अतुकांत कविताएँ

सरिता और सागर

'समीप आना चाहती हूँ मैं तुम्हारे'—
कहा सरिता ने कूल से झाँककर,
संकुचित स्वर में—'आज्ञा दें, देव'।

सागर के कान में सुधा घुली जैसे।
गंभीर पलकें उठा थोड़ी देखा उसने,
सुरभि-सुषमामयी सरिता-बाला को
अंग-अंग का जिसके विकास हुआ था
नियति के निदेश से,
कुशल करों से सुकुमारता के,
सुरुचि से, उमंग से, उल्लास से।

प्रथम दृष्टि पड़ते ही सरिता पर
लोचन फैल गये सागर के यों
देखा हो उसे मानो

कल्पना भी न कर सका था जिसकी स्वप्न में ।
बोला तदनंतर—
सुधामयी, ज्ञात नहीं है तुम्हें अभाग्य मेरा,
कामना ऐसी तभी है तुम्हारी ।
पारस स्व स्पर्श से
बनाता है स्वर्ण लोहे तक को;
परंतु मेरे अभाग्य का खारापन, आह, शुभे,
तुम्हारे सुधा-सलिल के स्वर्ण को भी
लोहे-सा कर देगा—
सर्वथा अपेय और त्याज्य ।
अतएव कल्याणी! कल्याण है इसीमें तुम्हारा,
मेरे स्पर्श से भी दूर रहो तुम ।

'देव, उद्गम से यहाँ तक
पथ-प्रदर्शन किया है अदृष्ट ने मेरे ।
दर्शन से तुम्हारे अब अनुभव कर रही हूँ
परम सुख का, संतोष का ।
कहता है जैसे कोई मुझसे—
और अंतरात्मा का मेरी विश्वास भी है यही—
सृजी गयी हूँ मैं तुममें ही समा जाने को,
आश्रय में तुम्हारे ही शांति पा सकूँगी मैं ।

ध्यान आया सागर को दायित्व का अपने
चिंतित रहा क्षण भर वह,
लक्ष्य किया उसने आवेग सरिता का;
कहने लगा तब वह
स्वर की गंभीरता को कम करके—
'शुभे, सुख है इसमें ही यदि तुम्हें
तो स्वागत है तुम्हारा हृदय से।

समा गयी तभी सरिता उसमें उल्लासमयी,
अभाग्य की छाया मात्र से
स्व आराध्य को बचाने का व्रत ले।

युग-युग से चल रहा है प्रयत्न सरिता का;
चाहती है वह अपने को मिटाकर भी
दूरकर देना खारापन सारा
प्रियतम के चिर अभाग्य का;

परंतु असफलता ही हाथ आयी है
अब तक उसके।

अभाग्य-निवारण के इस संघर्ष में
संतोष की बात है इतनी ही—
युग-युग के अनवरत प्रयत्नों की
निरंतर असफलता भी घटा नहीं सकी है
उत्साह को सरिता के;
अपनी प्रिय साधना में वह आज भी लीन है।

—(०)—

बहता पानी

बहता पानी—
पानी—जिसको 'जीवन' कहते हैं,
'जीवन' का गुण रखता है,
'जीवन' की गति रखता है,
जब तक बहता रहता है।

बहता पानी
क्या इसीलिए बँधना नहीं चाहता
एक स्थान पर कि बँधने से
सहज गुण—जीवन-दान—उसका
खो न जाय कहीं ?

हाँ, बहना ही उसका स्वभाव है—
बहने में ही 'जीवन' नाम सार्थक है।
इसी से बहता रहता है,

तृप्त कर सभागे को,
अतृप्ति दे अभागे को ।

अभागा कौन ?
जो बाँधना चाहता है
बहते पानी को,
स्वार्थवश हो,
भूलकर स्वभाव को उसके;
चाहता है कि
लाभ मैं ही सारा उठा लूँ,
बहते पानी को अपना लूँ,
'जीवन' पाकर जीवित हो जाऊँ,
अभागे से सभागा बन,
सभागे को अभागा बना ।

क्षुद्र स्वार्थ वृत्ति यह प्राणी की—
अतृप्ति और असंतोष-दायिनी—
रोक नहीं पाती गति जीवन की—
बहते पानी की—
उलट नहीं पाती क्रम सृष्टि का,
और सभागे को भी अभागा बना देती है ।

———

ज्वालामुखी

संसार जिनको 'अचल' कहता है
और करता है भूरि भूरि प्रशंसा जिनकी,
संज्ञा देता है 'भू-धर' की,
धीरता, गंभीरता और उच्चता देखकर,
उनके भीतर आग भरी होती है
दग्ध करती रहती है जो
निरंतर अंतस्तल को उनके ।

अंतर की ज्वाला
सम्हाल नहीं पाते जब वे कभी,
भस्म कर डालने को स्व-शरीर ही तब
उगलने लगते हैं आग अपने हृदय की ।

संसार यह देखकर
करने लगता है घृणा उनसे,
संज्ञा देता है उन्हें 'ज्वालामुखी' की ।

कारण स्पष्ट है—
संसार तो सदैव
बाह्य रूप और परिणाम ही देखता है
अपने लाभ-अलाभ की दृष्टि से;
किसी के अंतस्तल की आग नहीं जानता वह—
जानना भी नहीं चाहता—
या यों कहिए कि
जानकर भी अनजान ही बना रहता है—
कौशल मानता है इसमें वह अपना।

परंतु ज्वालामुखी का अंतस्तल जब
दग्ध होता रहता हैं अपनी ही आग से
भीतर ही भीतर,
तब संसार संतोष की साँस लेता है,
सुमनों से शृंगार करता है उसका;
और भूल जाता है कि
इनके भीतर की आग
जला रही होगी अंतस्तल को इनके।

और ज्वालामुखी ?
घट-घुटकर रह जाता है।

———

सुमन-चयन

वाटिका में विचरते श्याम ने
उमंग में भर पूछा राधिका से विनोद में—
जितने सुंदर सुमन खिले हैं यहाँ,
उनमें सबसे रुचता है कौन तुम्हें
सुवर्ण में, सुगंध में, सुरूप में, सुकुमारता में ?
किसको चुनना चाहोगी तुम स्वेच्छा से
शोभा बढ़ाने को स्व कक्ष की ?

हँसी राधा; बोली फिर कुछ संकोच से—
मेरी रुचि का तो एक ही सुमन खिला है
संसार की वाटिका में। चुनना था एक को,
सो चुन लिया अपनी पसंद का स्वतः ही;
अब प्रश्न ही नहीं उठता रुचि का मेरी।

जगत के परम नियंता से प्रार्थना है
करबद्ध यही मेरी कि सुरक्षित रहे
पुष्प वह मेरा, सुरभित करता रहे
युग-युग तक चर्तुदिक वातावरण को,
शोभा बढ़ता रहे मेरे कक्ष की, मेरी भी ।

———————

उपहार

तपोवन-वासिनी मुनि-बाला से
विदा लेते समय बोले दुष्यंत—
उपहार-स्वरूप तुम्हें कुछ दे नहीं सका मैं—
यह साध लिये जाता हूँ—
प्रणय-चिन्ह समझ स्वीकार करतीं
जिसे तुम जब, आत्मिक संयोग-सुख का
अति उन्मादकारी अनुभव करता मैं।
आश्वस्त रहता—चाहा था जिसको प्राण से
अपना लिया उस रूपसी ने हृदय से।
प्रदान किया यों सौभाग्य वह जो विधाता भी
नहीं दे सका मुझे।

बोली शकुंतला—
पाया है जितना प्यार तुमसे

और बातों की थाती अक्षय सौंपी है जो तुमने मुझ,
शत-शत उपहारों से कहीं बढ़ कर है
मेरे लिए। प्रेमभरी बातें तुम्हारी बसी हैं
हृदय में मेरे; प्राण में भिदकर
हो गयी हैं अभिन्न अंग मेरी सदा के लिए।
मृदुल स्पर्शों से कर-कमलों के तुम्हारे
पुलकन भर गयी है जो रोम-रोम में,
वही पर्याप्त है मधुमयी प्रिय स्मृति को
सजग रखने के लिए तुम्हारी सर्वदा।

———

सौभाग्यहीन

(क)

विस्तृत इस संसार में सभी ऐसे नहीं
जन्मते, कामनाएँ जिनके अंतस्तल की
पूर्ण समस्त हो जाती हों; यंत्र-सम लगे
रहते हैं क्रिया-कलाप में वे संसार के ।
समझता जन-समाज सारा है—
सुखी हैं सब भाँति वे और सर्व साधन-संपन्न भी ।
परंतु केवल वे या उनका भगवान् ही
जानता है कि रीता-रीता हृदय उनका है कैसा
और अभाव है उसमें कितना ।
जीर्ण-जर्जर होते जाते हैं नित्य शीघ्रता से,
एकाकी नीरस दिन बिताते हुए वे ।

सुख-सौभाग्यहीन इन अभागों के सामने
अनंत सुधा-सिंधु लहराया करता है;

परंतु सुधा क्या,
जल तक की एक बूँद के लिए
तड़प तड़प कर प्राण देने पड़ते हैं इनको;
बंधनों में मर्यादा के जकड़े रहते हैं इतना ये—
तड़पन भी ढकनी पड़ती है इनको
फीकी फीका खिसियानी-सी
मुस्कराहट से अपनी ।

(ख)

सौभाग्यहीन नहीं वह
जिसके विश्वास एक दिन पश्चाताप बन जाते हैं,
जिसकी कामनाएँ खील-खील हो जाती हैं,
अथवा जिसके आशीर्वाद विफल हो जाते हैं ।

सौभाग्यहीन नहीं है वह भी
जिसके रोते दिल को हँसना पड़ता है—
अपनी बार-बार की हार पर,
नित्य नयी असफलता पर;
और जिसे जीना भी पड़ता है
जर्जर तन से, मरे मन से,

अपने विश्वासों की, अपने अरमानों की
जलती हुई चिता देखने के लिए ।

प्रत्युत सौभाग्यहीन है वह
जिसके अंतरतम से,
जिसके रोम रोम से,
अपनी कामनाओं को चूर चूर करनेवाले के प्रति,
जीवन की अंतिम श्वांस तक,
यह ध्वनि न निकलती रहे—
ईश्वर तुमको सुखी रखे ।

———

वंचिता का तर्क

आवेगों को दबाने का यत्न-सा करती
बोली प्रणय-वंचिता—
हृदय में ज्वालामुखी के
उबला करता है लावा जिस प्रकार खौल खौलकर,
दशा है इस समय मेरी भी वैसी ही।

मन में कभी आता है,
आवेगों को अपने
रोकने की आवश्यकता ही क्या है मुझे ?
उफन जाने दूँ उनको,
दग्ध कर दें वे
सर्वप्रथम शरीर को मेरे,
पश्चात् चतुर्दिक वातावरण को,
श्मशानता जिसकी नीरवता से अपनी
घोषित करती रहे युग युग तक—
एक निर्मोही यहाँ नारी के दग्ध हृदय को

भस्म होते देखकर भी
खड़ा मुस्कराता रहा था ।

कभी सोचती हूँ—
प्रतिहिंसा की आग जो सुलग रही है
निराश हृदय में मेरे इस समय,
उष्णता इतनी प्रचंड भर दूँ उसमें,
धू धू कर धधक उठे वह,
देखते देखते फूंक दे इस शरीर को मेरे,
जन्मी थी जिसमें कामना प्रेम पाने की
एक निर्मोही से ।

लपलपाती लपटों की तूलिका से
उस सतरंगिणी ज्वाला की
चित्रित हो जाय अमिट चित्र एक
दिक् पटल पर—
नारी की प्रीति के ठुकराये जाने की कहानी जो
सूचित करता रहे सृष्टि के अंत तक ।

उन ऋषि-मुनियों की संतान
होने का ही तो गौरव है तुम्हे,
मदन-शर से बार-बार आहत हो,
स्व पुरुषत्व के पराजय की लज्जा जो
डुबाते रहे हैं
रमणियों की धर्म-भीरुता के सिंधु में ?

परंतु उन्हीं से जब
प्रणय-याचना की है कामिनी ने—
अपने अस्तित्व को मिटाकर
लीन हो जाना चाहा है उन्हीं में—
नीति के सूत्र तब
कभी पूर्वगामियों के उदधृत किये हैं,
कभी संयम की मूर्ति बन
स्वयं ही उनकी रचना का आडंबर निभाया है।

नारी तो सदा से
अपमानित होती आयी है तुम-जैसे
उन सिद्धांतवादियों के द्वारा,
सिद्धि और साधना के समस्त अवसरों पर

बाधा-रूप ही घोषित किया है
उसको जिन्होंने ।

नारी का तिरस्कार कर
मिथ्या तोष में डूबे तुम
भूल जाते हो कि ऐसे वाक्यों से
दुर्बलता और कायरता
तुम्हारी ही तो सूचित होती है ।

संयम का बल नहीं है जिसमें
वही तो असंयमी के अनुभवों को
जानने के लिए पतित होता है ।

और उसके पतन की कहानी
सुनाया करते हैं वाक्य उसके
युग युग तक ।

(२) गीतनाट्य

गांधार-पतन

पात्र—

आंभी—गांधारनरेश

वीरभद्र—गांधारकुमार

गुप्तसेन—गांधारसेनापति

धर्मशील—गांधार का महामात्य

सर्वदमन—तक्षशिला का स्नातक

महाप्रतिहार

यवनदूत

वसंतसेना—गांधार की महारानी

[स्थान—

तक्षशिला के विशाल राजभवन का गुप्त-परिषद्‌गृह। पंद्रह फीट लंबा-चौड़ा कमरा। दीवारों पर नयनाभिराम चित्रकारी। फर्श पर कालीन बिछे हैं। सामने हाथीदाँत का सुन्दर सिंहासन है जिसके पावे, हत्थे और पीठिका

स्वर्णमंडित हैं। उसके स्वर्ण-छत्र के आतपत्र में अनेक रत्न जड़े हैं। एक ओर की दीवार पर कुछ आयुध टँगे हैं।

सिंहासन की दाहनी और बाईं ओर एक एक स्वर्ण पीठिका हत्थेदार है और तीन-तीन केवल हाथीदाँत की हैं। ये सब अर्द्धचंद्राकार रूप में रखी हैं।

समय—

सिकंदर के आक्रमण का समय। उसने अभी भारत में प्रवेश नहीं किया है।

वर्षाकाल के प्रथम मेघ आकाश में उमड़ रहे हैं। ग्रीष्म की तप्त वायु आज शीतल होकर बह रही है। सायंकाल के पाँच बजे हैं।

गांधारकुमार—

सिंहासन के दाहनी ओर की स्वर्णपीठिका पर बैठा है। पचीस वर्ष की अवस्था; गोरा रंग, लंबा स्वस्थ शरीर, चौड़े मस्तक पर स्वर्णमुकुट शोभित है। कटि से कसी तलवार लटक रही है। नेत्र बड़े-बड़े और तेजयुक्त हैं। मुख पर ब्रह्मचर्य की कांति विशेष आकर्षक है। गोरे मुख पर मूछों की नई रेखा खूब खिलती है।

सेनापति—

चालीस वर्ष की अवस्था का प्रौढ़ व्यक्ति। साँवला रंग, गठा हुआ शरीर; मोटी नाक के नीचे ऊपर को उठी हुई काली मोटी मूछें। तलवार के अतिरिक्त एक शस्त्र और बाँधे है।]

वीरभद्र

(गंभीर स्वर में)

महराज पधारेंगे किस समय, कहो ?

गुप्तसेन

एक घड़ी में कुमार ! आवेंगे वे यहाँ ।
स्वयं निश्चय नहीं कर पा रहे हैं—
करें क्या इस समय वे ।

वीरभद्र

(स्वर को नम्र करके)

निश्चय करनेवाले तो
हम लोग हैं सेनापते ! महाराज क्यों
चिंतित हैं ?

गुप्तसेन

ठीक है, परंतु········

वीरभद्र

परंतु क्या ?
क्या उचित है कि उत्कोच यवनों का
स्वीकार कर मार्ग दिया जाय उन्हें, कहो ?
द्वार चिर स्वतंत्र भारतभूमि का खोलें

(कुछ और उत्तेजित होकर)

हम कृतघ्न, नीच, देशद्रोही कहलाने को ?
ऐश्वर्य के कुत्सित लोभ से
लगा लें इतना बड़ा टीका कलंक का माथ अपने ?

[गांधारकुमार आवेश में आ जाता है। परंतु सेनापति की गभीर दृष्टि पूर्ववत् ही है, जैसे उस पर कुमार की उत्तेजना का कोई प्रभाव ही न पड़ा हो। राजकुमार उसकी ओर ऐसे देखता है जैसे उत्तर की प्रतीक्षा उसे असहनीय हो।]

गुप्तसेन

विवश हैं महाराज।

वीरभद्र

विवश ! सेनापते !
कैसी करते बात ? आपत्तियों का सामना
करने की दृढ़ता अपनी अग्नि प्रचंड से
तूल-सा जला उड़ा देती है
विवशता की दुर्बलता को पल मात्र ही में ?

गुप्तसेन

यथार्थ है;
परंतु यवनों की विजयोन्माद के गर्व में चूर सेना को
कैसे रोक हम सकेंगे ?

वीरभद्र

शंका कैसी सेनापते ? अपने राज्य के
पूर्वी और पश्चिमी सभी प्रांतों को
दलित करके बढ़ाई जो शक्ति हमने है अपनी,
किस दिन काम वह आयगी ?

गुप्तसेन

स्थिति आज है विषम; गृहकलह ने
शक्ति को पंचनदप्रदेश समस्त की
क्षीण कर दिया है और छिन्न-भिन्न भी।

वीरभद्र

चिंता क्या है सेनापति !
खड़े होना हमें अपने पैरों पर।
युद्ध करना है शक्ति से अपनी;
शत्रु कोई हो, लोहा लेना सभी से।

गुप्तसेन

क्षमा हो कुमार ! धृष्टता मेरी यदि कहूँ
मैं नम्र स्वर में—
असमर्थ हम युद्ध के लिए हैं इस समय।

वीरभद्र

वीर कहते हो अपने को तुम ?
गर्व गांधारनरेश को है तुम्हीं पर ?
आश्चर्य महान मुझे !

[आवेश से पैर पटक कर कुमार खड़ा हो जाता है। सेनापति भी खड़ा होकर अपना सर झुका लेता है।

इसी समय महाराज का प्रवेश। दोनों सर झुकाकर अभिवादन करते हैं।

गांधार-नरेश—

लगभग पचास वर्ष की अवस्था। गोरे, लंबे, विशाल-

काय पुरुष; मुखमंडल रोबदार । आकृति से दृढ़ता टपकती है। दाढ़ी के बाल कुछ-कुछ सफेद हैं। कोई अस्त्र-शस्त्र साथ नहीं है।

महाराज सिंहासन पर बैठते हैं और उनके संकेत पर कुमार और सेनापति अपने-अपने आसनों पर।]

आंभी

(कुमार की ओर देखकर)

जानते हो बुलाया है क्यों इस समय मैंने तुम्हें
एकांत गुप्त-परिषद्गृह में ?

वीरभद्र

संभवतः यवन-सेना का मार्ग रोकने को
सन्नद्ध होने का आदेश देने के लिए।

आंभी

वीर हो तुम कुमार !
योग्य कथन यही है तुम्हारे,
और संतुष्ट भी हूँ मैं इसी से।
परंतु युद्ध का विचार नहीं है हमारा।

कुमार

कारण क्या है पिता जी, इस अनिच्छा का ?

आंभी

यवनों की गतिविधि पर दृष्टि है मेरी
बहुत पहले से; शक्ति और सेना का
उसकी परिचय मुझे है पूरा।

इसी से स्वीकार कर लिया है मैंने
प्रस्ताव को सिकंदर के;
मार्ग दूँगा मैं उन्हें
गांधार राज्य से होकर सेना ले जाने का,
विवशता से ही।

वीरभद्र

विवशता गांधार की क्षुद्र यह पिता जी!
कायरता की परिचायिका नहीं समझी जायगी क्या
दूसरों की दृष्टि में ?
भारत का सिंहद्वार लुटेरों के लिए खोल देना यों,
देशद्रोह नहीं कहलायगा क्या ?
(कुमार का स्वर ओजमय हो जाता है)

आंभी

यही कलंक तो मैं चाहता हूँ मिटाना।
सोंचा मैने है उपाय एक। मानोगे ?

[महाराज एक बार सेनापति की ओर मर्मभरी दृष्टि से देखकर कुमार की ओर इस तरह देखते हैं जैसे उसके हृदय की थाह लेने का प्रयत्न कर रहे हों।]

वीरभद्र

देश और जाति की मान-रक्षा के लिए
प्राण दे सकता हूँ
हँसते हँसते संकेत मात्र पर आपके।

आज्ञा पिता जी ! कीजिए।

आंभी

अपने सेनापति को
साथ ले गांधार की सीमा के बाहर जाओ
तुम इसी क्षण।

वीरभद्र

उद्देश्य इस निर्वासन का
जान सकता हूँ ?

आंभी

मोह में ऐश्वर्य के
और प्रपंच में माया के फँस चुका हूँ इतना मैं
कि कल्याण हो नहीं सकता
देश का मुझसे किसी प्रकार;
संपादन करो उसे तुम मेरे लिए।

वीरभद्र

(आशय न समझकर)

निर्वासन मात्र से मेरे
संपादन हो सकेगा कार्य यह कैसे ?

आंभी

पिता के पाप का फल भोगने को प्रस्तुत हो कुमार, तुम।
सिकंदर को अपने राज्य से
मार्ग देने का वचन देकर किया मैंने जो पाप है,
प्रायश्चित उसका तुम करो।

वीरभद्र

सहर्ष प्रस्तुत हूँ मैं पिता जी !
समझूँगा परम सौभाग्य इस निर्वासन को अपने,
शुभाशीर्वाद से आपके,
आहुति प्राणों की देने का स्वर्णावसर पा सका यदि
यज्ञ में स्वतंत्रता के।

आंभी

(गद्गद् होकर)

प्रसन्न हुआ मैं; संतुष्ट भी।

(उठकर माथा चूमकर)

जाओ गांधार की सीमा के बाहर;
करो प्रचार मेरे विरुद्ध खूब।

(कुमार चलने को प्रस्तुत होता है)

कायर नहीं मैं, देशद्रोही भी नहीं।
सिकंदर विदेशी को
विवश होकर दिये हैं वचन जो मैंने
कलेजे पर पत्थर रख निभा रहा हूँ।
स्थिति की जटिलता भयानक है कितनी !

(कुमार चलने को प्रस्तुत होता है)

आवेश में न करना घृणा कुमार मुझसे, जाओ।

(सेनापति की ओर देखकर)

कुमार की रक्षा का भार तुम पर रहा।

वीरभद्र

निवेदन एक है पिता जी !

आंभी

क्या चाहते हो ?

वीरभद्र

जाने दीजिए अकेले मुझे;
सेनापति की आवश्यकता है स्वदेश को ।
सिकंदर के आने पर यहाँ दृष्टि रखनी होगी इन्हें
उसकी हरेक चाल पर ।
प्रार्थना यही अंतिम बस,
रोक सेनापति को लीजिए ।
आपका शुभाशीर्वाद ही पर्याप्त है
रक्षा के लिए मेरी ।

[कुमार की बात सुनकर महाराज सेनापति की ओर देखते हैं । सेनापति संकेत करता है ।]

आंभी

जैसी इच्छा तुम्हारी; रहना सावधानी से ।
(कुमार का अभिवादन करके प्रस्थान । सेनापति से)
एक सौ विश्वस्त नायकों को
रहस्य सारा समझाकर निकाल दो सेना से—
'विद्रोही हैं ये लोग,' कह कर;
जा मिलें कुमार से वे सब
एक-एक करके, जाओ ।

(सेनापति जाने को प्रस्तुत होता है)

सुनो, सेना का अपनी रंगढंग है क्या ?

गुप्तसेन

महाराज ! आज्ञा आपकी शिरोधार्य तो की है सबने;
पर प्रसन्नता से नहीं, दुख से,
आश्चर्य से, विवशता से ।
रह जाते हैं वे हाथ मल मल कर,
बार बार पीसते दाँत और काटते ओंठ हैं ।
अकुलाते हैं मदमत्त गज-से,
एक अनुशासन के अंकुश की मार ने
रोक रखा है वेग को,
महाराज ! उन्माद को उनके अनियंत्रित होने से ।

आंभी

अधिकार में रखना है इस बार इन्हें
किसी तरह ।

(सहसा पुलकित हो जाते हैं)

अशांत होने पावें नहीं वे ।
उन्माद की तीव्र ज्वाला को
शांति-उपदेशों की सुशीतल वारिधारा से
पल पल में करते रहो शांत; जाओ ।

[सेनापति का अभिवादन करके प्रस्थान । महाराज क्षण भर उसी ओर देखते रहने के बाद चिंतित-से टहलने लगते हैं । खूंटी से लटकती तलवार उतारते, खोलते और

देखते हैं। पश्चात, उसे बंद करके ज्यों की त्यों लटका देते हैं।

कुछ सोंचकर महाप्रतिहार को बुलाते हैं। अभिवादन करते हुए महाप्रतिहार का प्रवेश।]

आंभी

महामात्य को बुलाओ।

महाप्रतिहार

जो आज्ञा, महाराज !

[महाप्रतिहार का प्रस्थान। महाराज पुनः टहलने लगते हैं। फिर खूंटी से लटकती तलवार उतार कर उसे टेक कर खड़े होते हैं।]

सूचना मिल चुकी है मुझे
विजय-नीति की सिकंदर की।
करती लूटमार, लगाती आग भयंकर,
निर्दयी-सी मारती बच्चों को,
अमानुषिक अत्याचार दिखाती स्त्रियों पर,
बिलखाती अनाथ अबलाओं को,
बढ़ रही है सेना उसकी महामारी-सी
प्रचंड से प्रचंडतर, प्रचंडतम हो।

[सहसा उत्तेजित हो जाते हैं और टहलने लगते हैं। फिर उसी स्थान पर खड़े होकर]

जंग नहीं लगी है आयुधों में हमारे

और चाहते भी हैं, पढ़ा देना एक पाठ इसे वीरता का,
दिखा देना, होते वीर कैसे हैं ।

(महाप्रतिहार का प्रवेश)

महाप्रतिहार

आते महामात्य सेवा में महाराज की ।

[महामात्य का प्रवेश । आगे बढ़कर सादर अभिवादन करके महाराज की गंभीर मुखाकृति से उनके मन का भाव जानने की चेष्टा करते हैं ।

महामात्य—

इकहरे शरीर का व्यक्ति । गोरा, लंबा मुख, सौम्य गंभीरता । साठ वर्ष की अवस्था । दृष्टि पैनी जो हृदय की बात भी ताड़ सकती है ।

महाप्रतिहार का प्रस्थान ।]

आंभी

पौरवराज और मालवेश के आये थे पत्र दो ।
उत्तर लिखना है उनका अभी ।

धर्मशील

प्रस्तुत हैं सेवा में महाराज की पत्र ये ।

(पत्र निकालता है)

आज्ञा की प्रतीक्षा है ।

आंभी

स्पष्ट लिख दीजिए—उचित संधि करना

ही समझा है इस समय सिकंदर से हमने
और सेना उसकी कर सकेगी प्रवेश भारत में
होकर राज्य में हमारे—
निर्बाधित, निष्कंटक मार्ग रहे उसका,
करने को सुप्रबंध ऐसा बाध्य हुए हम हैं
निज वचनानुसार ।

धर्मशील

(आश्चर्य से)

आज्ञा दे रहे कैसी यह महाराज हैं !
धृष्टता क्षमा हो मेरी,
प्रार्थना विनम्र है—संधि इन यवनों से,
बर्बर विदेशियों से, कर रहे आप हैं !

आंभी

सब सोंचकर ही निश्चय किया है मैंने ।
सेनापति से मिलकर समझ लीजिए
सारी योजना मेरी ।

(महामात्य सर झुकाते हैं)

मगध-नरेश को भी लिखना पत्र यह—
चाहता सिकंदर है मार्ग भारत-प्रवेश का
और स्वीकार किया है प्रस्ताव उसका हमने ।
भारत में आने दिया जाय उसको ।
पंचनद-शासक सब पराजित होंगे उसकी शक्ति से,
क्योंकि हो रहे जर्जर हैं सभी
आपसी बैर से ।

पश्चात, द्वार होगा बंद उसका
और खेल ही खेल में हरा सकेंगे भारतीय हम
इस दंभी विदेशी को।

धर्मशील

समझा मैं राजनीति आपकी।
भारत के महायुद्ध में विजयी हुए थे पांडव वीर
सहायता से श्रीकृष्ण की,
इसी नीति-कौशल से।

आंभी

भेजने के पूर्व हमें दिखा दीजिएगा पत्र दोनों।

(महामात्य का प्रस्थान)

कूटनीतिज्ञता न अपनाऊँ तो चले काम कैसे ?
क्षणिक आवेश में लोहा लिया जाय
क्रूर कर्मियों से तो लाभ क्या ?
ध्वंस कैसे करा दूँ
ऐश्वर्यसंपन्न राज्य अपना इन बर्बरों से ?
विश्वविश्रुत विद्यालय, गौरव भारत का,
ज्ञानागार अभूतपूर्व,
मंदिर भारती का पावन परम,
तहस-नहस कैसे हो जाने दूँ ?

[महारानी का शीघ्रता से प्रवेश। गांधारनरेश साश्चर्य उनकी ओर देखते हैं।

महारानी—

पचास वर्ष की अवस्था; अनुपम रूप-लावण्य। शृंगार ऐसा जिससे कलापूर्ण सुरुचि का अनुमान हो। मुख पर अद्भुत तेज और ओज है।]

आंभी

कैसे पधारीं महारानी !

वसंतसेना

सुना है मैंने—
पुत्र को निर्वासित किया है आपने राज्य से;
सत्य है यह ?

आंभी

(शांत स्वर में)

हाँ, सत्य है कठोर यह।

वसंतसेना

किस लोभ से ? किस स्वार्थ से
अपना रहे राज्य आप
सुपुत्र प्राणप्रिय को त्याग कर ?
सुनूँ मैं।

आंभी

कुटिल राजनीति की बातें हैं ये महारानी !
मत चिंता करो तुम।
माता हो तुम तो पिता का हृदय है पास मेरे भी।

वसंतसेना

समझी; परंतु राजनीति कैसी यह आपकी
चाहती है जो निर्वासन एकाकी पुत्र का !
समझ मैं मूढ़ चाल यह पा रही नहीं।
समझावें दया करके।

आंभी

यह समस्या है सैन्यबल की।
समर्थ हम आज हैं नहीं
सामना सिकंदर का करने को।

वसंतसेना

करते क्यों चिंता हैं आप शक्ति की।
विश्वास मानिए, गांधार समस्त साथ देने को
तैयार हो जायगा आपका स्वयं ही।

[महारानी क्षण भर रुक कर महाराज की ओर देखती हैं। महाराज अप्रभावित-से रहते हैं।]

गांधार के सभी नर-नारियों की धमनियों में
बह रहा है रक्त
उन स्वतंत्रताप्रिय पूर्वजों का
विदेशी शत्रु जिनकी ओर आँख उठाने का भी
साहस नहीं कर सके थे कभी—
युद्ध की तो बात दूर, बहुत दूर रही।
चिरकाल से............

आंभी

(बीच में रोक कर)

जा सकती हो साथ तुम भी महारानी ! स्वपुत्र के
विद्रोह करने को गांधार में ।

[महारानी की आकृति से इतना सुनते ही उत्तेजित
हो जाना प्रकट होता है ।]

पतित हो रहा हूँ मैं अपने कर्तव्य से.
तुम तो पालन करो उसका
देने के लिए संतोष अपनी आत्मा को,
और शांति अमर पूर्वजों को ।

(महाराज कुछ मुस्कराने लगते हैं ।)

वसंतसेना

कह रहे क्या हैं आप यह ?
भारत के प्रथम ही विदेशी शत्रु का लोहा
मान लें आप हँसी उड़ाने को स्वयं
और उड़वाने को दूसरों से भी,
उन पूर्वजों की, चिरकाल से जो रहे हैं स्वतंत्र ।
हँसते-हँसते सर्वदा,
खिलवाड़-सा समझ भयानक युद्धों को,
पराजित सुदूर प्रदेशवासियों को जो करते रहे;
नित्य ही अधीन बनाया था जिन्होंने विदेशियों को,
स्वतंत्रता का हरण करके, वरण करके उनकी ।

[महारानी अधिक उत्तेजित हो जाती हैं। महाराज एक टक उनकी ओर निहारते रहते हैं। उनके मुख की सहज कांति किंचित मलिन हो जाती है।]

आंभी

सब समझता हूँ और समझकर भी
सिकंदर को मार्ग देने को
प्रस्तुत होना पड़ा है मुझे।

वसंतसेना

(पुनः कुछ शांत होकर)

यही तो आह ! कह रही मैं—
संतान उन विश्वविजयी पूर्वजों की आज स्वयं,
बिना भयानक युद्ध किये ही—
युद्ध तो दूर, युद्ध की तैयारी के बिना ही—
केवल प्रस्ताव पर,
पराधीन होने को प्रस्तुत है सहर्ष;
नहीं कल्पना में आती बात यह !
सुनकर अकथ कथा—
छिपी किसी तरह रह नहीं सकती जो—
कहेगा संसार क्या ?

(महारानी क्षण भर रुक जाती है)

आंभी

(कुछ आगे बढ़कर)

महारानी ऽ ऽ !

वसंतसेना

(पीछे हटकर)

क्षमा करें।

इतना बस और कहना मुझे आपसे—

होगा समाप्त जीवन यह एक दिन

और गांधार का श्रीराजकुल भी मिट जायगा;

परंतु भारत-इतिहास के काले पृष्ठों पर

गांधार की स्वदेश के प्रति

क्षुद्रतायुक्त कृतघ्नता की दुखद कहानी यह

अंकित रहकर अनंत काल तक हा !

भारतवासियों का मुख लज्जित करती रहेगी।

[महारानी के नेत्रों में आँसू आ जाते हैं। वे उन्हें आँचल के छोर से पोंछती हैं। महाराज भी विचलित हो एक पग आगे बढ़ आते हैं।]

आंभी

कायर नहीं है पुरुष महारानी ! यह

सम्मुख खड़ा है जो तुम्हारे;

'पति' कहलाने का अधिकारी था जो अभी तक,

परंतु आज अपने को पति तुम्हारा

कहने का साहस नहीं कर सकता जो;

जिससे तुम्हें इस संबंध से दुख न हो।

[महाराज रुक कर महारानी की ओर देखते हैं; उनकी दृष्टि में रोष या उत्तेजना का भाव नहीं है।

महारानी उनके मुख की ओर न देखकर विशाल वक्षस्थल की ओर निहारने लगती हैं; उनकी आकृति से गंभीरता प्रकट होती है।]

वसंतसेना

आपके संबंध का गौरव रहा है सदा मुझे;
आप भी जानते हैं इसे।

आंभी

(ध्यान न देकर पूर्ववत्)

अपने सैन्यबल की शक्ति परिमित से परिचित हो
अवसर सिकंदर को दे रहा हूँ
आगे बढ़ने का; कारण जिसका
प्रलोभन क्षुद्र भी तुम कह सकती हो।
परंतु हार्दिक अभिलाषा है मेरी यही
कि विश्व का विजेता कहलानेवाला दंभी
लौट न जाय कहीं देश भारत से
पूर्णतः पराजित हो जाने के पहले ही;
लालसा भारतीय युद्ध-कौशल देखने की इसकी
रह न जाय कहीं पूरी होने से।

[महारानी पति की ओर अभिमान की ऐसी दृष्टि से देखती हैं जिसमें प्रसन्नता है, गर्व है और चमत्कार-जनित आश्चर्य भी। महाराज भी एक बार उनकी ओर देखते हैं; परंतु उनकी आकृति अपरिवर्तित रहती है।]

वसंतसेना

(जैसे उल्लास को दबा रही हो)

महाराज ! मैं समझती थी········ ।

आंभी

(अपरिवर्तित स्वर में)

भारत में, जानता हूँ मैं—इस विदेशी की,
क्रूर आक्रमणकारी शत्रु की,
निश्चित है पराजय पूर्ण ।
वीर-प्रसविनी भूमि के आर्य वीरों के आगे
टिक न सकेगी कभी
विश्वविजयिनी वह सेना भी सिकंदर की;
गर्वोन्मत्त हो आज नृशंस बन रही है,
अमानुषिक अत्याचार करने को
उतावली है जो;
दिखा रही पैशाचिकतायुक्त बर्बरता अपनी घोर,
करने को कलंकित अपने को,
जाति को, संस्कृति के नाम को
और गौरव को अपने देश के ।

[महाराज का स्वर एक बार किंचित उत्तेजित होकर पुनः गंभीर हो जाता है । महारानी संतुष्ट-सी उनकी ओर देखती हैं; उनके मुख पर गर्व की एक झलक दिखायी देती है ।]

वसंतसेना

उचित जो समझें, करें; लोकापवाद से
परंतु न बचेगा राजकुल गांधार का
और............और............।

आंभी

(किंचित मुस्करा कर)

राजनीति की दृष्टि से बातें ये
साधारण हैं बहुत ।

(कुछ ठहर कर)

गांधार-गौरव की
वृद्धि के लिए ही प्रस्थान किया है
तुम्हारे चिरंजीव सुकुमार ने,
निर्वासन जिसे तुम समझ रही हो;
और प्रयत्न यही है हमारा
कि शत्रु भी ऐसा ही समझ ले ।
पति पर न सही,
सुपुत्र पर तो होना चाहिए अभिमान तुम्हें ।

[महाराज हँस देते हैं । महारानी सलज्ज पति की ओर देखती हैं; इनकी दृष्टि में गर्व का कांतियुक्त चमत्कार प्रतिबिंबित है; इनका सर झुक जाता है ।]

वसंतसेना

(सप्रेम दृष्टि से देखती हुई)

रक्षा का उसकी किया है प्रबंध कुछ आपने ?

आंभी

वीर प्रसविनी को
चिंता है वीर पुत्र की रक्षा की ?

[महाराज मुस्करा कर उनकी ओर देखते हैं। महारानी हँसकर सर नीचा कर लेती हैं ।]

आंभी

सुकुमार तुम्हारा सुरक्षित है;
निश्चिंत रहो । पिता को भी चिंता है पुत्र की ।

(महाप्रतिहार का प्रवेश)

महाप्रतिहार

(अभिवादन करके)

सेवा में महाराज की
महामात्य आने की चाहते हैं आज्ञा ।

आंभी

आने दो ।

(महाप्रतिहार का प्रस्थान)

वसंतसेना

आज्ञा हो मुझे भी ।

[महाराज सर हिलाकर स्वीकृति देते हैं । महारानी जिस द्वार से आयीं थीं उसी से उनका प्रस्थान । महाराज उनके जाते ही गंभीर होकर सिंहासन पर बैठ जाते हैं ।

महामात्य का हाथ में कई पत्र लिए प्रवेश । महाराज उनकी ओर कुछ सोंचते हुए देखते हैं ।]

महामात्य

पत्र प्रस्तुत हैं दोनों ।

[महामात्य दोनों पत्र महाराज की ओर बढ़ाते हैं । महाराज उन्हें पढ़ने लगने हैं । महामात्य कभी उनकी ओर देखते हैं और कभी दीवार से लटकते हुए आयुधों की ओर । क्षण भर बाद महाराज पत्र महामात्य को लौटा देते हैं और स्वयं खड़े हो जाते हैं ।]

आंभी

गुप्त दूत जायगा मगध को
शीघ्रगामी अश्व पर ।

महामात्य

जो आज्ञा ।
गुप्तचर भी रहेंगे गांधारी साथ उसके ।

आंभी

(संतोष-स्वीकृति के साथ)

उचित है ।

[महामात्य का प्रस्थान । महाराज टहलने लगते हैं । जिस द्वार से महामात्य गए थे उसी से महाप्रतिहार का प्रवेश ।]

महाप्रतिहार

(अभिवादन के बाद)

महाराज ! प्रतीक्षा में सेनापति हैं आज्ञा की द्वार पर
साथ एक युवक के ।

आंभी

बुलाओ।

[सेनापति का सर्वदमन के साथ प्रवेश। दोनों महाराज को सादर अभिवादन करते हैं। महाराज सिंहासन पर बैठ जाते हैं ; वे दोनों खड़े रहते हैं।

सर्वदमन—

तक्षशिला विश्वविद्यालय की छात्र-परिषद् का सभापति। शिक्षा के अंतिम वर्ष का स्नातक। चौबीस वर्ष की अवस्था ; शरीर सुगठित; गौर वर्ण के मुखमंडल पर ब्रह्मचर्य का प्रदीप्त तेज। वीर वेश में; तलवार बाँधे। महाराज के सामने कुछ बायीं ओर हटकर खड़ा होता है।

सेनापति उसके ठीक सामने, महाराज के दायीं ओर गंभीर मुद्रा में खड़ा है।]

आंभी

(मुस्कराकर)

प्रसन्न हो सर्वदमन ?

सुखी हैं सभी छात्र विद्यालय के ?

सर्वदमन

(हाथ जोड़कर)

दया है महाराज की।

आंभी

कैसे पधारे ?

सर्वदमन

एक निवेदन करने को सेवा में महाराज !
आया हूँ ।

आंभी

(प्रश्नसूचक मुद्रा में परंतु मुस्कराते हुए)
क्या चाहते हो ?

सर्वदमन

यवन सेनानी सिकंदर, सुना है हमने,
अनुमति चाहते हैं स्वदेश भारत में
प्रवेश करने की महाराज से,
जायँगे वे होकर गांधार से;
और स्वीकार किया है गांधारपति ने प्रस्ताव उनका;
देने को मार्ग उन्हें प्रस्तुत हैं ।

आंभी

(गंभीर होकर)

यथार्थ सब है ।
कुछ कारणों से स्वीकार किया है हमने
प्रस्ताव सिकंदर का ।

सर्वदमन

तो महाराज विनय है—
निवेदन हमारा भी एक स्वीकार लें ।
आज्ञा दें सेनापति को
प्राण हर लेने की सभी गांधारी युवकों के

शिक्षा जो पाते हैं
विश्वविद्यालय में तक्षशिला के ।

[महाराज गंभीर दृष्टि से एक बार सेनापति की ओर देखते हैं, परंतु सेनापति की दृष्टि सर्वदमन पर गड़ी है। सर्वदमन महाराज के हाथ जोड़ता है ।]

आंभी

गर्व है मुझे सर्वदमन !
गांधारी नवयुवकों पर;
तब क्यों चाहते हो ऐसा ?

सर्वदमन

क्षमा करें महाराज !
धृष्टता यह कि पराधीनों-सा जीवन बिताना
नहीं सीखा अभी हमने;
आत्माभिमान से ऊँचा सर, ऊँची पलकें कर
विचरते रहे हैं हम सर्वदा ।
परंतु आज, महाराज ! मस्तक झुकाना पड़ेगा हमें
यवन विदेशियों के आगे,
और सो भी संकेत से महाराज, आपके ।
न, राजाधिराज ऐसा दुर्दिन देखने को
जीवित न रहने दीजिए हमें ।

[सर्वदमन महाराज के पुनः हाथ जोड़ता है । महाराज की गंभीरता जैसे विचलित हो जाती है । वे सेनापति की ओर देखकर कुछ संकेत करते हैं ।]

गुप्तसेन

कितने युवक
सैनिक शिक्षा आज विद्यालय में तुम्हारे
पा रहे हैं ?

सर्वदमन

(प्रकृतिस्थ होकर)

नियमित रूप से तो केवल दो सहस्र,
परंतु पिछले चार मास से
अधिक ध्यान दिया जाने लगा है
सैनिक शिक्षा की ओर;
और पाँच सहस्र से अधिक छात्र
बन रहे सैनिक नये,
खेलने को खेल वीरों के
युद्ध-क्षेत्र में समोद और सोत्साह ।

गुप्तसेन

इनमें कितने हैं इस प्रांत के ?
कितने विदेशी हैं ?

सर्वदमन

पाँच सौ के लगभग हैं निकटवर्ती विदेशों के
जो सीख रहे हैं साभिप्राय भारतीय कला युद्ध की ।
एक सहस्र छात्र हैं भारत के भिन्न प्रांतीय;
शेष सब गांधारी हैं ।

गुप्तसेन

मनोवृत्ति क्या है अन्य प्रांत और देशवालों की
इस समय ?

सर्वदमन

(महाराज की ओर देखकर)

आह ! महाराज, कष्टदायी सबसे यही तो बात है ।
कल तक हमारे जो थे घनिष्ठ मित्र
आज वे छात्र विदेशी
हमें देखते ही निरस्त हो मुस्कराने लगते हैं
परस्पर संकेत करके ।
और भारत के अन्य प्रांतवाले भी
हमें देख रहे हैं अति हेय दृष्टि से ।
करने को अधिक लज्जित हमें
किया है अपना सुसंगठन उन्होंने
मालवीय अध्यक्ष की अधीनता में
विरोध विदेशी यवनों का करने के लिए ।

[सर्वदमन कुछ क्षण के लिए शांत हो जाता है । महाराज सेनापति की ओर देखते हैं । सर्वदमन भी उन्हीं का अनुसरण करता है ।]

गुप्तसेन

(महाराज से)

सूचना मिल चुकी है मुझे इसकी बहुत पहले ।
निवेदन भी किया था मैंने महाराज से ।

आंभी

स्मरण है ।

सर्वदमन

इसीलिए निवेदन है, महाराज !
हमें आज्ञा दीजिए लेने को लोहा विदेशियों से;
अथवा जीवित न रहने दीजिए हमें
ढोने को असह्य भार पराधीनता का,
और सहने को कटाक्ष स्वदेशी-विदेशी मित्रों के

(महाप्रतिहार का प्रवेश)

महाप्रतिहार

(साभिवादन)

द्वार पर महामात्य के साथ
दूत है एक, सिकंदर विदेशी का ।

[सर्वदमन चौंक कर बारी-बारी से महाराज और सेनापति की ओर देखता है। सेनापति एक दृष्टि महाप्रतिहार पर डाल महाराज की ओर देखने लगता है ।]

आंभी

बलाओ ।

[महाप्रतिहार का प्रस्थान । महाराज भेद-भरी दृष्टि सेनापति पर डालते हैं ।]

गुप्तसेन

इस दूत ने प्रस्थान किया था शिविर से यवनों के
कल प्रातःकाल ।
चरों से तभी सूचना मिली थी मुझे ।

[महामात्य का यवन-दूत के साथ प्रवेश। महामात्य की तरह दूत अभिवादन करता है।

यवनदूत—

ऊँचे कद का गौर वर्णवाला व्यक्ति। अवस्था लगभग पैंतीस वर्ष। योद्धा-सा वेश। हाथ में एक पत्र लिये। प्रवेश करते ही एक बार कमरे के चारों ओर देखता है।

महाराज सिंहासन पर हैं। शेष चारों व्यक्ति खड़े रहते हैं। महामात्य महाराज के समीप हैं।

यवनदूत

महाराज की सेवा में भेजा है पत्र यह
वीर विश्व-विजेता सम्राट सिकंदर ने।
आज्ञा दी है मुझे उत्तर लाने की।

[सविनय पत्र महाराज को देता है। महाराज पढ़ते हैं और उसे महामात्य की ओर बढ़ा देते हैं।]

धर्मशील

(पत्र पढ़ने के पश्चात्)

दो सहस्र वीर भेजने को
लिखा है युद्ध के लिए।

[दूत दीवारों की चित्रकारी पर एक दृष्टि डालकर महाराज की ओर देखता है।]

आंभी

(सेनापति की ओर देखकर)

विश्रामगृह में ले जाने को इन्हें कहो किसी से।
पश्चात्, देना उत्तर है।

(सेनापति का दूत के साथ प्रस्थान)

आंभी

प्रतीक्षा कर रहा था मैं इसी पत्र की।
जानता था कि सिकंदर लिखेगा सेना के लिए।

(सर्वदमन की ओर देखते हैं)

सर्वदमन

महाराज, क्षमा करें,
छोटे मुँह बड़ी बात यदि निकल जाय मुख से मेरे।
सेना दो सहस्र दे देने पर कट जायँगे हाथ हमारे।
जा पड़े हम हैं यवन विदेशियों के चंगुल में।
पतन यह गांधार का कलंक समझा जायगा
स्वतंत्र स्वदेश-गौरव के लिए।

आंभी

उद्विग्न न हो युवक;
केवल मार्ग देने से पतन नहीं होगा गांधार का;

(मुस्करा देते हैं)

मेरा भी जन्म हुआ है इसी देश में।
संगठन की या स्वदेश-भक्ति की नहीं,
अनुशासन की तुम्हारे परीक्षा है इस समय।

देखना है मुझे खरे उतरते हो उसमें कितना तुम लोग।
देश को आवश्यकता होगी तुम्हारी जब,
स्वयं आवाहन करूँगा मैं तुम्हारा।
जाओ, अध्ययन करो ध्यान से
व्यावहारिक राजनीति का।

(सर्वदमन का अभिवादन करके प्रस्थान)

आंभी

(सेनापति की ओर देखकर)

कुछ और कहता दूत था ?

गुप्तसेन

उत्साहित बहुत है सिकंदर इस भारत-विजय के लिए;
और पंचनद-प्रदेश के विभाजन ने
हौसला बढ़ा दिया है उसका।
आतुर है इतना वह यहाँ पहुँचने को
कि पंख होते तो उड़ आता अकेला ही।

(कुछ रुककर परिवर्तित स्वर में)

परंतु चरों से यह सूचना भी मिली है—
मार्ग में अपने सिकंदर ने
पराजित किये हैं देश जो उनकी सेनाओं के
वेतनभोगी भारतीयों की वीरता से
प्रभावित इतना वह हुआ है कि कभी कभी
आशंका होने लगती है उसे अपनी विजय की
सोचता है बार बार वह,

प्रतिदिन करता है मंत्रणा सेनानायकों से—
कैसे पराजित किया जा सकेगा
देश यह चिर स्वतंत्रों का।

आंभी

(महामात्य से)

लिख दीजिए सिकंदर को—
सेना अभीष्ट शीघ्र ही जायगी
सहायता के लिए आपकी।

(महामात्य का प्रस्थान। सेनापति से)

पौरव वीर की योजना है
लोहा सिकंदर से लेने की।
देखना है, कितनी शक्ति एकत्र कर ली है उन्होंने।
तक्षशिला पर इस समय दृष्टि रखो।
चुने हुए युवक गांधार के
भेज दो कुमार के पास।
यवनों की सेना के अग्रसर होने में
बाधा डालें वीर पग पग पर;
पल भर को निश्चिंत न रहने दें सिकंदर को।
विद्रोह गांधारराज के प्रति फैलावें जन जन में,
समस्त पंचनद और सिंधु प्रदेशों में।
बंदी होकर कुमार स्वयं पहुँचे
शिविर में सिकंदर के।
भर्त्सना करे मेरे देश-द्रोह की—

विश्वास यों जमावे मुझपर विदेशी का
संकट में डालकर अपने को ।

[सेनापति का प्रस्थान ; महाराज सिंहासन से उठ कर टहलने लगते हैं ।]

क्या बुरा किया है मैंने ?
देश-द्रोही भारतीय कहलाऊँगा क्या मैं ?

(दीवार से तलवार उतारकर)

स्वतंत्रते देवि ! कंज-चरणों पर तेरे
दिया डाल प्राणप्रिय पुत्र है ।
भारत की और मेरी भी
लाज है अब हाथ तेरे ही ।

---

(३) गद्य-काव्य

संदेश

उस दिन देखा—

नव नील नीरद मध्य चमक चमककर, क्षण भर में ही आँखें चौंधियाकर, चपला बार-बार छिप जाती है—जैसे सघन अघ-समूह के संसार में कोई दिव्य ज्योति अवतीर्ण होकर अदृश्य हो जाती हो।

कवि ने सोचा—

लोक-जन-रंजन-कारिणी दामिनी का क्या कोई संदेश है ?

उत्तर मिला—

वह रूप की जीवन-लीला का अभिनय कर रही है।

सूखे तिनके

समुद्र के किनारे कुछ हरे-भरे छोटे पौधे लगे थे। उन्हीं के पास कुछ सूखे तिनके पड़े थे।

लहर का एक झोंका आया। हरे पौधों को नहलाकर उसने उनका रूप निखार दिया; पर सूखे पौधों को वह बहा ले चला।

हरे-भरे पौधों ने यह दृश्य देखा तो खुशी और गर्व से झूमने लगे; तिनकों की परवशता पर उन्हें जोर की हँसी आयी।

उस हँसी से सूखे तिनके खीझे नहीं। उन्होंने धैर्य से उत्तर दिया—हम डूबते का सहारा बनने जा रहे हैं।

रहस्य

मंद-मंद वायु में स्वच्छंद विहरण करता एक चंचल पक्षी पिंजड़े में बंद एक सजातीय की ओर ताक रहा था जैसे उसकी प्रसन्नता का कारण जानने को उत्सुक हो।

स्वतंत्र पक्षी ने मुक्त वायु में हर्षोल्लास से किलोलें करते हुए दूसरे से साश्चर्य पूछा—जिस पिंजड़े में पंख फैला सकने का भी स्थान नहीं, उसी में बंदी होकर भी तू प्रसन्न कैसे है ?

दूसरे ने तत्काल उत्तर दिया—अरे, तेरे विस्तृत नभ में भी तो क्षण भर विश्राम करने के लिए कोई आधार नहीं है ! परंतु अंतिमांश कहते-कहते न जानें क्यों उसका स्वर धीमा हो गया।

× × ×

कवि सोचने लगा—

संतोष का मूल क्या विवशता भी हो सकती है ?

जंगल

जंगल से किसी ने पूछा—तेरी सार्थकता क्या है केवल यही न कि तुझे काट-काटकर जलाया जाय ?

जंगल ने उत्तर दिया—ठीक है। पर मैं अपने जलानेवालों की अग्नि शांत करने के लिए मेघों को आकर्षित करके उन्हें जल बरसाने को प्रेरित भी करता हूँ।

संतुष्ट कौन ?

प्रकाशित प्रातःकाल की मोददायिनी वायु से पुलकित होकर एक छोटा पक्षी फुदक रहा था, सुरीले स्वर से चहचहा रहा था।

कुछ क्षण बाद विस्तृत आकाश-मंडल में काले-काले मेघ उमड़ने-घुमड़ने लगे।

प्रसन्नता से पुलकित होते हुए उस छोटे पक्षी ने मेघों की ओर देख ठंढी साँस ली और मन में कहा—क्या ही अच्छा होता यदि मैं भी इसी प्रकार स्वच्छंद होकर गगन-मंडल में इतना ऊपर उठ जाता और मुक्त विचरण कर नाचता फिरता !

उधर, मेघ के विशाल उर में भी एक वेगवती लालसा उठ रही थी—कैसा भाग्यशाली होता मैं यदि इस छोटे पक्षी की तरह ही चहकने-फुदकने और फुर्र से उड़ जाने की क्षमता होती मुझमें !

× + ×

कवि ने सोचा—इस प्रपंचात्मक जगत के जड़ और चेतन अंगों में अपनी स्थिति से क्या कोई भी संतुष्ट है ?

जागृति

जगत के हाहाकारी कोलाहल ने उसे जगा दिया। खुमारीभरी आँखें उसने खोलीं; एकबार विवश उपेक्षा से अलसाई दृष्टि उठाकर उसने चारो ओर देखा—भीषण संघर्ष, भयंकर स्पर्धा, लोलुपता और

स्वार्थ का तांडव नृत्य। और यह सब हो रहा था सभ्यता और मानवता के नाम पर !

तब क्षोभपूर्ण घृणा से भरकर, ऊबकर, उसने फिर आँखें बंद कर लीं।

जाग्रतों और उत्थितों ने व्यंग्यपूर्ण ढंग से हँसकर कटाक्ष किया—जीवन कर्तव्यों से भरा है; कर्मवीर के लिए जीवन में विश्राम कहाँ !

उसने सुना, पर उत्तर न दिया और यह दिखलाने के लिए कि कुछ सुना ही नहीं, उसने उपेक्षा से करवट बदल ली।

परंतु मन में उसके अशांति थी जिसे समझाने के लिए मन ही मन उसने कहा—नग्न सभ्यता-प्रदर्शन को भला 'जागृति' कहना चाहिए ?

और फिर निश्चिंत हो सो गया वह।

छोटा बड़ा

एक विशाल वृक्ष की छाया से हटकर मैं खड़ा था और मेरे हाथ में एक सुंदर, छोटा आइना था।

मैं यह देखकर चकित रह गया कि वह विशाल वृक्ष उस छोटे आइने में एक अंगुल के बराबर भी नहीं था।

× × ×

कवि ने वृक्ष देखा और देखा उसके प्रतिबिंब को। उसके मन में एक प्रश्न उठा—जो हमें इतना छोटा दीखता है, क्या वह वस्तुतः इतना महान् भी हो सकता है ?

खोज

शुभ्र श्वेत गगन में स्वच्छंद विचरनेवाली वायु, शीतल निकुंज के कुसुमित सुमनों की सुगंध से मस्त हो जब लताओं से अठखेलियाँ कर रही थी, तभी शांति की खोज में पागल कवि उसके मधुर स्पर्श से चौंक पड़ा।

जिज्ञासा भरी दृष्टि से कवि ने क्रीड़ा में रत वायु की ओर देखा; जैसे वह जानना चाहता था कि अखिल विश्व के कोने-कोने में रमने वाली यह वायु तो शांति का ठौर जानती ही होगी।

तभी एक झोंका आया। वायु ने मानो उत्तर दिया—सभी दिशाओं में, सभी स्थलों में इतनी तीव्र गति से मैं शांति का निवास ही खोजती फिरती हूँ; परंतु कहीं भी तो शांति नहीं मिली। कवि ! शांति की आशा से ही तो मैं तुम्हारे पास आयी थी।

× × ×

कवि उत्तर सुनकर ठगा-सा रह गया।

जड़ता

देव-गृह को सुरभित करने के लिए भक्त ने धूप का उपयोग किया और आरती के लिए कपूर का।

कुछ क्षणों में धूप और कपूर, दोनों की स्थूलता भस्म हो गयी; केवल उनकी सूक्ष्मता शेष रही।

भक्त ने प्रफुल्लित होकर वर माँगा—देव, इन जड़ पदार्थों का आदर्श अपनाने में मैं भी समर्थ हो सकूँ; अपने संपर्क के वातावरण को सुरभिपूर्ण और आलोकित करके इसी प्रकार मैं भी विलीन हो जाऊँ तो जीवन धन्य हो जाय।

भक्त इतना कहते-कहते चरणों में नत-मस्तक हो गया।

कवि की दृष्टि मूर्ति के मुख पर थी। उसने देखा—मूर्ति के होंठ हिल रहे हैं। उसने सुना—दूसरे को जड़ समझने की अपनी जड़ता को पहले भस्म कर; तेरा जीवन भी सार्थक हो जायगा।

× × ×

कवि जानना चाहता था कि भक्त के कान तक ये शब्द पहुँचे या नहीं। उसने भक्त की ओर ध्यान से देखा; परंतु कुछ समझ न सका; क्योंकि वह अब भी आत्म-विभोर हो नतमस्तक पड़ा था।

श्मशान

पंचभूत—निर्मित नश्वरता भस्म हो रही थी।

स्नेह-सी जीवन की असफल अभिलाषाएँ अग्नि को और भी प्रज्ज्वलित कर रही थीं।

समीप खड़े संबंधियों का भग्नहृदय स्मृति की शीतल लपटों से झुलस रहा था।

एक भयंकर शून्यता व्याप रही थी।

× × ×

और कवि सोचने लगा—

क्या यह आवश्यक है कि सुदूर जानेवाले इस पथिक की विदा पर विषाद भरे आँसू बहाये जायँ ?

लालसा

पागल-सा न जाने कब से तुम्हें ढूँढ़ रहा हूँ; पर तुम कहीं नहीं मिलते ।

तुम्हारा कल्पित दिव्य रूप मंत्र-मुग्ध और आश्चर्यचकित हो ललचायी दृष्टि से देखा करता हूँ; परंतु तब भी तुम अदृश्य ही रहते हो ।

तुम्हारे सम्मिलन की मधुर कल्पना करते-करते जब मैं मोद-प्रवाह में बेसुध हो बहने लगता हूँ, तब तुम जैसे झटका देकर भाग जाते हो ।

× × ×

कवि ने पूछा—

तब तुम चाहते क्या हो ? उनसे मिलकर उन्हीं में समा जाना ?

मैंने कुछ सोंचकर उत्तर दिया—नहीं नहीं; मैं अपनी कल्पित आशा में ही सुखी हूँ । केवल इतनी ही लालसा है कि यह आशा भर बनी रहे ।

देवता कौन ?

मंदिर में अपार भीड़ थी ।

कुछ भक्त देव-मूर्ति के सम्मुख दंडवत् पड़े थे, कुछ पुजारी जी के श्रीचरणों पर झुके थे, कुछ देव-मंदिर की देहली पर मस्तक टेक रहे थे और कुछ विख्यात भक्तों के चरण-स्पर्श का पुण्य-लाभ कर रहे थे ।

इस प्रकार का सम्मान देख देव-मूर्ति को ध्यान आया—मैं ही तो भगवान हूँ।

देव-मंदिर तभी सोच रहा था—मैं ही तो प्रणम्य हूँ।

पुजारी का भी अभिमान जागा—मुझसे बढ़कर कौन है ?

और देव-भक्त तो घोषणा ही करने लगा—संसार में मैं ही सर्व पूज्य हूँ।

संसार ने सबकी बातें सुनीं और धीरे-धीरे सब पर विश्वास करके सबके प्रति नम्रता दिखायी।

परंतु कवि का अंतर्यामी बराबर हँस रहा था।

मनोवृत्ति

हरे-भरे आम्र वृक्ष पर बैठी कोकिला ने सरस स्वर से मधुर तान छेड़ी।

मैदान के उस पार से, दूसरे वृक्ष पर बैठे कोकिल ने प्रेम-विभोर हो उसमें सहयोग दिया।

जग के नर-नारियों ने कोकिल-कोकिला का प्रणय-संगीत सुना। उन्होंने परस्पर रहस्यभरे संकेत किये और उन दोनों की खोज में पड़ गये।

एकाकी कवि उस गान को सुनने में तन्मय था। उन दोनों का ही नहीं, वह तो अपने भी अस्तित्व को भूल चुका था।

ममता

उसे गुलाब का फूल बहुत अच्छा लगता था। कितने ही काँटे चुभें, खिला हुआ गुलाब देखते ही वह उसे प्राप्त करके ही चैन लेता था।

एक दिन उसकी वाटिका में, उसी के लगाये-सींचे वृक्ष में एक गुलाब खिला। अत्यंत पुलकित होकर जब वह पौधे के पास पहुँचा तब सहसा उसके हाथ रुक गये। उसके हृदय में जैसे किसी ने पूछा-क्या इसी दिन के लिए तुमने इसे सींचा था ? इसी दिन के लिए इतने काँटों के बीच खिलने की इसे प्रेरणा दी थी ? इसी दिन के लिए तुम्हारा संकेत पाकर उसने आतप, वर्षा और शीत सहा था ?

वह न जाने क्यों रुक गया और न जाने क्या सोचने लगा। कुछ क्षण बाद, जीवन में पहली बार, सदा के स्वभाव के विपरीत, गुलाब के उस फूल को तोड़े बिना ही वह लौट पड़ा।

+ + +

तभी कवि के मुख से निकल गया—ममता ! तू धन्य है !

हीरे की बात

अकस्मात एक अनमोल हीरा पाकर मैं खुशी से फूल गया, गर्व से इठला गया और मेरे मुख से अनायास निकल गया—संसार में मुझसा भाग्यशाली कौन है ?

हीरे के एक पारखी मिले। उन्होंने मेरा हीरा परखा। कुछ गंभीर स्वर में बोले—चीज सुंदर तो बहुत है; परंतु इसमें एक दोष है। यह जिसके पास रहेगा, उसे मानसिक शांति नहीं मिल सकती।

पारखी महोदय चले गये। मैं उनके कथन पर विचार करता रहा; परंतु मेरी आत्मा ने उस पर विश्वास नहीं किया।

वह हीरा अब भी मेरे पास है। सचमुच कभी कभी मैं चिंताओं से इतना व्यथित हो जाता हूँ कि प्राणांत कर देने की इच्छा होती है। परंतु उस हीरे को मैं सदा छाती से ही लगाये रखना चाहता हूँ। वह है ही इतनी प्यारी चीज कि चिंताओं से जर्जर हो जाने का भय भी उसे मुझसे अलग नहीं कर सकता।

\+ + +

संसार ने हीरे की कहानी सुनी। उसने कहा—तत्काल त्याग देना चाहिए था ऐसी चीज को। अब भी उसको नहीं त्याग देता जो, निस्संदेह वह वज्र मूर्ख है।

\+ + +

कवि ने हीरे की कहानी सुनी। उसने कहा—बड़े भाग्य से हीरा मिलता है किसी को। रही मिटने की बात; सो मिटना तो है ही सबको। अपने हीरे को छाती से लगाये यदि कोई मिट सके, तो मिटना भी धन्य हो जायगा।

मेरे आराध्य

जिस क्षण से होश सँभाला है, कुछ न कुछ करता ही रहा हूँ। जो कुछ किया उसमें भला भी है, बुरा भी है—भला कम है, बुरा अधिक है।

एक दिन मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे हृदय पर एक तरह का बोझ है और उसका भारीपन बढ़ता ही जाता है, यहाँ तक कि वह बोझ मुझे असह्य जान पड़ने लगा। तब मेरा ध्यान अपनी आत्मा की ओर गया। बहुत चिंतन के पश्चात् मुझसे जैसे किसी ने कहा—पाप का बोझ तो नहीं है यह ?

मुझे यह प्रश्न कुछ सार्थक जान पड़ा। ज्यों-ज्यों मैं इसकी सार्थकता पर विचार करता गया, त्यों-त्यों बोझ बढ़ने का क्रम समाप्त होता गया; परंतु बहुत-कुछ प्रयत्न करने पर भी हृदय पर जो पहला बोझ था, उसका भार कम नहीं हुआ। पाप की ओर से अरुचि भी कम न हो सकी; जब भी उसके लिए अवसर पाता, जी ललक ललक पड़ता।

अंत में मैं तुम्हारी शरण पहुँचा। तुम्हारे दर्शन करके, मेरे देवता ! मुझे विशेष शांति मिली। इससे उत्साहित होकर बड़े दीन स्वर में मैंने अपनी भूलें कह सुनायीं, अपनी बार-बार की मूर्खता की चर्चा की और अपने गुप्त पापों और अपराधों को भी नहीं छिपाया। तब मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे हृदय का हिम-सा भार पश्चाताप की अग्नि से गल गल कर बह रहा है। और अपना वक्तव्य समाप्त करते करते मैंने अनुभव किया कि खिन्नता और उदासीनता का सारा भाव दूर हो चुका है। उस दिन से मुझे पाप से विरक्ति हो गयी, उसकी बात सोचना भी मुझे रुचिकर नहीं लगता।

तब क्या पाप से बचाव उसके ज्ञान में नहीं, प्रत्युत उसके बखान में, आत्मनिवेदन में और पश्चाताप में ही है और क्या यही सच्चा प्रायश्चित है ?

धर्म-सार

एक जिज्ञासु एक दिन एक साधु की सेवा में प्रस्तुत हुआ।

साधु ने स्मित मुद्रा से उसका स्वागत किया।

जिज्ञासु ने सविनय प्रणाम किया।

साधु ने आशीर्वाद दिया।

जिज्ञासु ने उपहार अर्पित किया।

साधु ने उसे भी ग्रहण किया और जिज्ञासु की कल्याण-कामना की।

तब जिज्ञासु ने सविनय निवेदन किया—सब धर्मों का सार जानने की आशा से मैं सेवा में उपस्थित हुआ था।

साधु ने उत्तर दिया—वह तो मैं तुम्हें बता चुका।

जिज्ञासु आश्चर्य से उसकी ओर ताकने लगा।

साधु फिर बोला—धर्म का सार तर्क या धर्म-ग्रंथ का पठन-पाठन नहीं, आचरण है और वह जीवन के दैनिक व्यवहार में ही निखरता है।

जिज्ञासु कुछ समझा या नहीं, कहा नहीं जा सकता। हाँ, उस समय वह संतुष्ट अवश्य हो गया; परंतु लौटते समय हाट से धर्मशास्त्र भी वह खरीदता लाया।

प्रेम का मोल

चलती हाट के चतुष्पथ पर प्रेम ने सबको संबोधित कर कहा—मैं अपने को बेचना चाहता हूँ। कोई भी मेरा मूल्य देकर मुझे खरीद सकता है।

वैभव ने आगे बढ़कर मणिमुद्रा बिखेरते हुए कहा—जितना मूल्य हो तेरा, सहेज ले।

प्रेम ने उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा।

विलास ने अपने सुख-साधनों का प्रलोभन देते हुए मदभरी चितवन से वासना की ओर इंगित करके कहा—इससे भी बढ़कर है मूल्य तेरा ?

प्रेम ने उसकी ओर से मुँह फेर लिया।

शक्ति ने सावेश प्रवेश करके कहा—मेरे साथ चल। मैं बरबस तुझे अपना बनाऊँगी।

परंतु प्रेम को उसका दल-बल जौ भर भी न हिला सका।

तब निश्छलता, लाजभरी चितवन से एक बार उसकी ओर देखकर और फिर दृष्टि नीची करके, मधु-सिंचित स्वर में बोली—तुम्हारा मोल आँकने या तुम्हें क्रय करने का दुस्साहस और धृष्टतापूर्ण विचार तो कभी मेरे मन में आ नहीं सकता; हाँ, अपना विश्वासपूर्ण हृदय देकर सदैव के लिए तुम्हारी हो जाने की कामना अवश्य रखती हूँ। आशा है, तुम मुझे अपनाकर मेरा जीवन सार्थक कर दोगे।

प्रेम ने प्रफुल्लित होकर कहा—देवि, मैं तो चिरदास हूँ तुम्हारा।

प्रेम की मृत्यु

निर्जन स्थान पर एकाकी विचरते प्रेम को क्रोध, दंभ, ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर आदि ने घेर लिया और सभी उसकी हत्या कर डालने के लिए वार पर वार करने लगे।

आघात करते करते थक जाने पर सबने बड़े आश्चर्य से देखा—प्रेम का बाल भी बाँका नहीं हुआ है; उसके मुख पर दिव्य आभा है और वह स्वस्थ खड़ा मुस्करा रहा है।

सबने मन ही मन प्रेम की शक्ति से हार मान कर सर झुका लिया।

तभी छल और असत्य ने पीछे से प्रेम पर चोट करने का निश्चय किया।

परंतु उनके आघात के पूर्व ही, प्रेम निष्प्राण होकर गिर पड़ा।

सबने आँखें फाड़कर यह दृश्य देखा; परंतु प्रेम की मृत्यु का कारण कोई न समझ सका।

× × ×

संसार के लिए प्रेम की मृत्यु आज भी एक रहस्य है।

विश्वास

मनोरम सौंदर्य की ज्योति से विश्व को आलोकित करती उषा के प्रिय दर्शन कर, और हृदय में नवीन उमंगों का संचार करनेवाले समीरण को सारे जड़-चेतन विश्व को सजग कर उल्लास बाँटते

देखकर मैंने समझा—तुमारे अभिनंदन और स्वागत का ही यह आयोजन है।

मेरे हृदय की प्रसन्नता तभी तरल ओस-विंदु में नाचने और श्रद्धा-पक्षियों के कलरव में तुम्हारी गुणावली गाने लगी।

प्रतीक्षा में समय बीत चला; पर तुम नहीं आये। फिर भी मैं निराश नहीं हूँ और तुम्हारे स्वागत के लिए निरंतर आँखें बिछाये हूँ।

कारण ?

मुझे विश्वास है कि तुम्हारे विधान में देर है, अंधेर नहीं। अपने प्रेमी को दर्शन देने के लिए तुम कभी न कभी अवश्य आओगे—तुम्हें आना पड़ेगा।

---

(४) लघुकथाएँ

आश्रय-आधार

एक हरे-भरे वृक्ष पर दो अमरबेलें छायी थीं। दोनों अपनी हरियाली से झूम रही थीं; अपने परम सौभाग्य से इठला रही थीं।

उन लताओं में एक बड़ी थी, एक छोटी। बड़ी लता में खिलती दो कमनीय कलिकाओं को स्नेह से छोटी ने अपनी गोद में ऐसे भर लिया था, जैसे उसी की जायी हों।

बड़ी लता ने वृक्ष से सानुराग कहा—तुम्हीं तो आश्रय हो हमारे, देवता !

वृक्ष ने स्निग्ध और मधुर स्वर में उत्तर दिया—तुम दोनों भी तो आधार हो मेरा, जीवनदायिनी !

कुछ क्षण बाद छोटी लता न जानें क्या सोचकर सहसा पूछ बैठी—और यदि कभी मैं सूख जाऊँ तो ?

वृक्ष इस प्रश्न के लिए तैयार न था। चौंककर उसने पहले छोटी लता की ओर देखा, फिर बड़ी की ओर; और तब एक लंबी साँस लेकर गंभीर स्वर में बहुत धीरे से कहा—इसके पूर्व ही सूख जाऊँगा मैं और मेरे साथ ही सूख जायगी तेरी यह बड़ी बहन और········और········तब अनायास सूख जायँगी ये अधखिली कलियाँ बिना खिले ही। आह !

इतना कहकर वृक्ष साश्रु नयनों से आकाश की ओर ताकने लगा।

तभी सारे वातावरण में शोकमयी आर्द्रता की एक लहर दौड़ गयी और कवि भी सिहर उठा।

सुख : इस पार : : उस पार

उस दिन निर्जन नदी तट पर नौका बाँधकर जब मैं एकाकी पत्थर पर बैठा, तब कुछ सूना-सूना लग रहा था । तभी दूसरे किनारे पर दृष्टि गयी । दूर तक फैली हुई हरियाली, चहचहाते हुए पक्षी, कोकिलकंठ से गाती ग्राम-बालाएँ, रंभाती गायें सब कुछ इतना भला लगा कि उधर ही देखता रह गया । तभी जैसे किसी ने कान में कहा—प्रकृति का सारा सौंदर्य, सारा सुख, उस पार ही है ।

और मैं नाव खोलकर उस पार ही सुख-सौंदर्य पाने चल दिया ।

उसी समय दूसरे किनारे से भी एक नौका खुली । नदी के बीच में दूसरी नाव के समीप आने पर मैंने पहचाना—उसमें तो मेरा मित्र था ! मेरा हृदय खिल गया । मैंने उससे इस पार की ओर आने का कारण पूछा ।

मित्र ने कहा—उस किनारे पर तो मैं पाँच ही मिनट में ऊब गया । तभी मेरी दृष्टि इस पार के हरे-भरे वृक्षों पर पड़ी । बस, मुझे जान पड़ा कि इधर ही मन को सच्ची शांति मिल सकती है और मैं इस ओर चल पड़ा ।

इतना कहते-कहते मेरा मित्र इस पार के दृश्य में जैसे रम गया । और मैं बीच नदी में नौका पर बैठा कभी इस पार देख रहा था, कभी उस पार । मेरे मन में उस समय यही प्रश्न बार-बार उठ रहा था कि सुख इस पार है या उस पार ।

मलिनता-स्वच्छता

सरोवर के किनारे उसकी कुटी थी और वह जल-संबंधी अपनी सारी आवश्यकताएँ उस सरोवर से पूरी कर लेता था।

उस दिन जब मैं उसकी कुटी में पहुँचा, बड़ी प्यास लग रही थी। मैंने उससे जल माँगा। उसने लोटा देकर सरोवर की ओर संकेत कर दिया।

सरोवर के निकट जाकर मैंने देखा—उसमें तो काई की मोटी परत बिछी हुई है। क्षण भर प्यास की बात पर झुँझला कर मैं खाली लोटा लिये कुटी में लौट आया।

उसने सरल ढंग से पूछा—जल कैसा है पीने में ?

मैंने झुँझलाकर कहा—वह पानी पीने लायक भी है ?

वह चुपचाप उठा और मुझे साथ आने का संकेत करके मेरे हाथ से लोटा लेकर सरोवर के किनारे पहुँचा। उसने लोटे की तली से काई काटकर एक किनारे कर दी और जल भर कर मेरी ओर बढ़ा दिया।

मैंने कुछ मुँह बनाकर लोटा ले लिया। देखा—जल तो बड़ा स्वच्छ है। फिर भी पीने की इच्छा नहीं हुई।

मेरा संकोच देखकर वह बोला—ऊपरी मलिनता देखकर किसी का तिरस्कार न करो; भीतर की स्वच्छता देखने का प्रयत्न करो। ऊपरी मलिनता, आंतरिक स्वच्छता को ढक भर सकती है, उसको मलिन नहीं बना सकती।

मैंने जल पिया। सचमुच वह बड़ा शीतल था, बड़ा स्वादिष्ट था। मैं तृप्त हो गया और उस तृप्ति के स्मरण मात्र से आज भी चित्त प्रफुल्लित हो जाता है।

कपोत-कपोती

एक कपोत था, एक कपोती थी। दोनों के नीड़ निकटवर्ती दो कोटरों में थे। कभी कपोत उस कपोती के यहाँ जाता, कभी कपोती उसके यहाँ आती। घंटों दोनों साथ-साथ रहते और साथ-साथ ही प्रायः वे हँसते-खेलते, खाते-पीते। दोनों स्वच्छंद थे, सुखी थे। मृदुल स्पर्श का परम पुलककारी सुख दोनों को अपूर्वानंद से भर देता था। भविष्य के संबंध में दोनों सुनहरे स्वप्न देखते थे।

एक दिन दोनों कटोरों के बीच में महीन तारों की जाली लग गयी। अब दोनों एक दूसरे को दूर से देख सकते थे, हँस सकते थे, रो सकते थे, अपना सुख-दुख कह सकते थे; परंतु मृदुल स्पर्श के सुख से वंचित हो गये थे। कुछ समय तक दोनों को इसकी बड़ी व्यथा रही; परंतु समय ने उन्हें इस जीवन का अभ्यस्त बना दिया। दोनों ने धैर्य रक्खा और दर्शन-संलाप में ही संयोग-सुख का अनुभव करने लगे।

एक दिन दोनों बंधन में फँस गये। अब उन दोनों के बीच में लकड़ी का परदा था। दोनों को एक दूसरे के निकट ही होने का आभास तो मिलता, एक दूसरे की गर्म-गर्म साँसों का अनुभव भी उन्हें पुलकित करता, परंतु प्रत्यक्ष दर्शन से अब वे वंचित थे। अब थोड़ा-बहुत संलाप-सुख ही कभी-कभी उनको मिल पाता था।

ऐसी स्थिति में संसार के नियम-क्रम को समझने का दोनों प्रयास करते और अपने को धैर्य भी यह कहकर दे लेते कि हमारे संयोग-संस्कार इतने ही दिनों के लिए थे; फिर भी कभी कपोत परदे पर सिर दे मारता, कभी कपोती बिलख-बिलखकर आँसू बहाने लगती।

संसार उन्हें देखता रहा, देखता रहा; परंतु उनकी वेदना को न समझ सका।

एक दिन कपोती को न जाने कहाँ भेज दिया गया और कपोत अकेला रह गया। कपोती को खोकर कपोत कितना बिलखा, कितनी बार उसके मन में आत्मघात का विचार आया और किन-किन तर्कों से उसने संयम को हाथ से जाने से रोका, भावुकजन इसे सहज ही समझ सकते हैं। कपोती से मिलने के मार्ग में आरंभ से अब तक जितनी बाधाएँ आयी थीं, उनकी स्मृतियों ने कपोत को यह वियोग भी सहने की शक्ति प्रदान कर दी और वह अपना हृदय-प्राण खोकर भी जीवित रहा।

धीरे धीरे कपोत घुलने लगा। उसके शरीर में हड्डियाँ भर रह गयीं, उसकी आँखों का चमकीलापन जाता रहा, उसके पंखों में स्निग्धता न रही, उसकी वाणी की मधुर गुंजार और हृदय की नियमित धड़कन बहुत धीमी पड़ गयी। उसकी इस दयनीय दशा को देखकर किसी ने उससे पूछा—तुम्हारी कपोती को इसकी सूचना दे दूँ ?

कपोत ने एक बार प्रश्नकर्त्ता की ओर ध्यान से देखा; फिर कुछ सोचकर धीरे से कहा—नहीं, नहीं; उस तक सिर्फ इतना संदेश पहुँचा दो कि मैं बहुत सुखी हूँ और ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूँ कि तुम भी सदैव स्वस्थ और सुखी रहो।

प्रश्नकर्त्ता ने उसका उत्तर सुना, समझा और फिर पूछा—क्या तुम्हें विश्वास है कि कपोती सुखी होगी या अब तक जीवित होगी ?

कपोत ने आहत दृष्टि उठाकर उसकी ओर एक बार देखकर

धीरे से कहा—उसकी व्यथा मैं समझता हूं, संसार नहीं; क्योंकि मेरी प्रसन्नता के लिए आंतरिक व्यथा दबाकर हंसते हुए ही वह रहती होगी। पर संसार समझता होगा कि वह हंसती है, इसलिए सुखी है। रही जीवित रहने की बात, सो उसके प्राण मेरे पास हैं। जब तक मैं जीवित हूं, उसे जीवित रहना ही होगा।

प्रश्नकर्त्ता यह मार्मिक उत्तर सुनकर व्यथित हो गया। कुछ देर कपोत के सूखे नेत्रों से कठिनता से निकल पाती अश्रु-बूंदों को देखता रहा, फिर न जाने क्या सोचकर उसने पूछा—तब तुम्हारी अंतिम इच्छा क्या है?

कपोत जैसे संजीवनी पा गया। उसके मुख पर कांति की एक लहर दौड़ गयी। उसने पुलकित स्वर में कहा—मेरी ही नहीं, हम दोनों की एक ही अंतिम इच्छा है और वह यह कि अगले जन्म में हम पुनः मिलें और हमारा इस प्रकार विछोह न हो; हम एक दूसरे के ही रहें। आशीर्वाद दीजिए कि हमारी अंतिम इच्छा भगवान अवश्य पूरी करे।

खाज

वह खाज से बहुत पीड़ित और विकल था। उसमें बड़ी धीरता और सहन-शीलता थी, फिर भी रह रहकर उसके आँसू आ जाते थे।

उसे यदि किसी क्रिया में कुछ सुख मिलता था तो वह थी खाज को खुजलाने की बात। खुजलाते-खुजलाते उसके शरीर से खून टपकने लगा था, गहरे-गहरे घाव हो गये थे। फिर भी जरा हाथ रुकते ही वह विकल हो जाता और हारकर फिर खुजलाने लगता।

उस दिन उससे मिलने गया तो देखा, घंटे भर में एक बार भी उसने खुजलाने के लिए हाथ नहीं बढ़ाया। मैंने समझा—अब रोग घट रहा है और शीघ्र ही वह स्वस्थ हो जायगा। मैंने उस रोग से मुक्ति पाने की बधाई दी और पूछा—किस दवा से आराम हुआ ?

वह हँस पड़ा; बोला—खाज की ही नहीं, संसार के सारे रोगों की दवा मिल गयी है मुझे।

मैं चकित होकर उसका मुँह ताकने लगा। क्षण भर रुककर उसने फिर कहा—यह खाज नहीं है, सांसारिकता में लिप्त प्राणी की आँख खोलने वाली उपदेशिका है। अब तक मैं इसे साधारण रोग समझे था; आज मुझे जान पड़ा है कि वास्तव में यह खाज सांसारिक सुखों को प्राप्त करने की तृष्णा का ही दूसरा रूप है।

मेरी समझ में उसकी बात नहीं आयी। मैंने उसके मुख को ध्यान से देखकर उसका आंतरिक भाव समझना चाहा; पर इसमें भी असफल रहा। तब स्पष्ट रूप से मैंने पूछा—क्या तात्पर्य है आपका ?

उसने सरल ढंग से उत्तर दिया—बात बिलकुल सीधी है।

खाज को खुजलाने से मिलने वाला आनंद तृष्णा के विकल कर देनेवाले आनंद के समान है। खाज को खुजलाने से हो जाने वाले

घाव, उन आन्तरिक घावों का रूप है जो तृष्णा की पूर्ति के लिए जीवन भर इधर-उधर भटकते रहने से जन्म-जन्मान्तर के लिए हो जाते हैं। न खाज के घाव खुजलाने से दूर हो सकते हैं, न तृष्णा के घाव सहलाने या उनकी पूर्ति के लिए उचित-अनुचित साधन जुटाने से। ऐसे रोगों से मुक्ति का एक ही उपाय है—इनको भुला दो, इनकी ओर से उदासीन हो जाओ, इनसे ऊपर उठ जाओ।

वक्तव्य समाप्त करते-करते उसके मुख पर शांति और संतोष का ऐसा भाव था कि मैं भी परम तृप्ति का अनुभव करने लगा।

पाप से मुक्ति

बस्ती में एक बूढ़े पहात्मा पधारे। श्रद्धालु जनों ने उनका खूब स्वागत-सत्कार किया। महात्मा संतुष्ट हुए। उन्होंने प्रत्येक जन से एकांत में वार्तालाप किया और सबकी समस्याओं का समाधान कर दिया। पुत्र-पुत्री, धन-धान्य, विजय-कीर्ति, सभी का आशीर्वाद प्राप्त करके जन-समूह लौट पड़ा।

जब महात्मा बाहर आये, उन्होंने देखा—एक जन अब भी सर झुकाये बैठा है। उन्होंने बड़े स्नेह से पूछा—वत्स, तेरी चिंता का क्या कारण है?

उसने बड़ी दीनता से कहा—भगवन, धन-जन से सुखी हूँ; परंतु पाप से मुक्ति नहीं मिलती और मन प्रतिपल पाप की ही बातें सोचता रहता है। कोई उपाय बताइए, पाप से मुक्ति पाने का।

महात्मा हँसे; बोले—अब क्यों चिंता करता है उसकी ? तेरा यह जीवन को केवल एक सप्ताह का और है।

वह व्यक्ति चौंक पड़ा और तुरंत खड़ा हो गया। कुछ पल वह महात्मा के मुख की ओर आँखें फाड़फाड़कर देखता रहा, फिर अपने प्रश्न को भूलकर घर की ओर इस तरह शीघ्रता से चल पड़ा जैसे कोई नयी योजना उसने बना ली हो।

× × ×

सातवें दिन महात्मा स्वयं उसके स्थान पर पहुँचे। उन्हें देखते ही वह व्यक्ति लपककर उनके चरणों पर इस प्रकार झुका, जैसे मृत्यु की कराल डाढ़ों से वे ही उसे बचाने में समर्थ हों। तभी महात्मा ने पूछा—पाप की जिन बातों से पल भर भी तुझे छुटकारा नहीं मिलता था, इन सात दिनों में कितनी बार तूने उनका स्मरण किया ?

व्यक्ति ने बड़ी शांति से उत्तर दिया—भगवन्, इसके लिए अवकाश ही कहाँ मिला इन दिनों ? मृत्यु के भय से अत्यंत भयभीत होकर धन-जन की व्यवस्था और हित-चिंता में मैं इतना व्यस्त रहा कि मन गया ही नहीं [illegible] पाप की बातों की ओर।

महात्मा मुस्कराये और बोले—बस, पाप से मुक्ति पाने का उपाय मृत्यु का यही ध्यान है। इसी से तू पाप के चिंतन से मुक्ति पा सका है जिससे पुनर्जन्म हुआ है तेरा। विश्वास है, भविष्य में अब तू सदा सतर्क रहेगा।

धर्मपिता

कुएं से एक बालिका पानी खींच रही थी । ज्योंही भरी हुई बाल्टी उसने कुएं से निकाली, एक प्रौढ़ व्यक्ति ने आकर उससे कहा— बेटी, मैं प्यासा हूं, पानी पिला दे ।

बालिका ने अचकचाकर उस गौर वर्ण व्यक्ति की ओर देखा और उसे कुलीन वंशज समझकर सिर झुका लिया ।

वह व्यक्ति उस बालिका के संकोच का कारण न समझ सका । उसने फिर अपनी बात दोहरायी ।

बालिका ने जरा सा सर ऊंचा करके धीरे से कहा—आर्य, मैं डोम कन्या हूं । मेरा छुआ पानी आप कैसे ग्रहण कर सकेंगे ?

व्यक्ति मुस्कराकर बोला—मैंने तुमसे पानी मांगा था, तेरी जाति नहीं पूछी थी । और तुझे जब मैं 'बेटी' कह चुका तब तो तू मेरी 'धर्म की बेटी' हो गयी । ला, अब जल्दी से पानी पिला अपने प्यासे धर्मपिता को ।

बालिका के अश्रु छलछला आये । वह धर्मपिता को पानी पिलाने लगी । उस व्यक्ति ने अंजुली बांधी जिसमें जलधार के साथ-साथ डोम-बालिका के अश्रु-विंदु भी गिर रहे थे ।

भगवान की प्राप्ति

ईश्वर को एकबार कौतुक सूझा। वह अकस्मात भक्त के सामने जा खड़ा हुआ।

भक्त आश्चर्यमिश्रित कौतूहल से ईश्वर की ओर देखने लगा। फिर साहस करके उसने ईश्वर का स्पर्श किया, इसकी गोद में जा पहुंचा, इसके कंधे पर चढ़ गया।

और ईश्वर खड़ा मुस्कराता रहा, मुस्कराता रहा।

ईश्वर की कृपा से फूलकर भक्त ने कहा—मैं ही तुम्हारा सच्चा भक्त हूँ। अपनी भक्ति से मैंने तुम्हें प्राप्त किया है और मेरा ही तुम पर पूर्ण अधिकार है।

वाक्य पूरा होते होते ईश्वर अंतर्धान हो चुका था।

भक्त यह देखकर बिलखने लगा। उसे अपनी भूल ज्ञात हो गयी। वह जोर जोर से कहने लगा—मैं मूर्ख हूँ, अभिमानी हूँ। तू सबका है, सब तेरे हैं। तुझे वही पाता है जिस पर तेरी कृपा होती है। जो तेरी कृपा से वंचित हैं, उनसे सौभाग्य रूठा है। अतएव मेरी भूल क्षमा कर।

भक्त यह कहकर दंडवत् गिर पड़ा। भगवान तभी प्रकट होकर उसे उठाने लगे। उनके नेत्रों से अविरल अश्रु-वर्षा हो रही थी।

---

(५) रेखाचित्र

कूकी

हमारे प्रेस में काम करनेवाले महाराज का नाम 'कूकी' है। यह विचित्र नाम उसके माता-पिता का दिया हुआ नहीं हैं। उन्होंने तो बड़ी श्रद्धा और भक्ति से उसका नाम रखा था भगवतीप्रसाद। उसके सगे संबंधी जो व्याकरण के नियमों से सर्वथा अनभिज्ञ थे स्त्रीलिंगवाची 'भगवती' शब्द से ही अपना काम निकालने लगे। इसमें भी कम से कम इतनी अच्छाई तो थी कि दिन में आठ-दस बार 'भगवती' का शुभ नाम मुँह से निकलता था और, बहुत संभव है, किसी को यह आशा भी हो कि चारों ओर मँडरानेवाले यमदूतों से किसी समय यदि रक्षा करने की आवश्यकता होगी तो इस नाम की अधिष्ठात्री अवश्य हमारी रक्षा करेगी जैसे अजामिल की सहायता विष्णु के दूतों ने 'नारायण' नाम सुनते ही की थी। परंतु अड़ोसी-पड़ोसी इतने दूर के लाभ की आशा में अपने मुख को कष्ट देना उचित न समझते थे। वे सुविधा के विचार से महाराज को 'भगौती' कहा करते थे।

महाराज हमारे यहाँ इन्हीं दो नामों को लेकर आये थे। घर की स्त्रियों को उनका 'भगवती' नाम अच्छा लगता था; परंतु स्कूल में पढ़नेवाले लड़के, जिन्हें दूसरों को बनाने में स्वर्गीय आनंद मिलता है, देहात से आये महाराज की भाषा सीखने के बहाने, उनके साथ कुछ आत्मीयता प्रकट करने के उद्देश्य से, उन्हें 'भगौती' ही पुकारा करते हैं। तीन अक्षर के इस छोटे शब्द को हमारे चार वर्ष के भतीजे ने अपनी सुविधा की दृष्टि से और भी संक्षिप्त कर लिया था। उसने महाराज को 'भूती' पुकारना शुरू किया। परंतु इस नये नाम का ध्वन्यात्मक संबंध 'भूत' शब्द से रहने के कारण न यह महाराज को रुचा और न घर की स्त्रियों को; हाँ, कभी-कभी उन्हें चिढ़ाने के लिए छोटे लड़के इसका प्रयोग कर देते थे। इन्हीं दिनों हमारे ढाई वर्ष के चिरंजीव ने 'भगवती' के चार वर्गीय उतार-चढ़ाव के अक्षरों के 'व्यतिक्रम' वाले शब्द को बदलकर महाराज का पुनः संक्षिप्त नामकरण किया—'कूकी' और इस प्रकार शब्द-निर्माण के नियमों में व्यस्त रहनेवाले भाषा-वैज्ञानिकों के सामने एक ऐसा व्यावहारिक उदाहरण रखा जो दूसरों के लिखे ग्रंथों में उन्हें खोजने पर भी शायद न मिलेगा।

'भगवती' का यह नाम चल गया। इसके कई कारण थे। एक तो यह कि संक्षिप्तीकरण जिन विशेषताओं को—यथा सुविधा, सरलता, मधुरता, स्पष्टता आदि—ध्यान में रखकर किया जाता है, वे सब इस छोटे शब्द में पायी जाती हैं। दूसरे, हमारे जिस चिरंजीव ने यह नाम रखा था उसने अपनी ढाई वर्ष की आयु का उत्तरार्द्ध रोगों से भयंकर युद्ध करने में बिताया था और इसलिए उसका रखा हुआ नाम, उसके मुख से निकलनेवाले दो-चार शब्दों की तरह घरवालों को प्रिय था। तीसरी और सबसे बड़ी बात यह थी कि 'भगौती' और 'भूती' कहने पर मन ही मन चिढ़नेवाले 'भगवती' को भी यह संबोधन प्रिय था और जिस समय 'कूकी आइगे', 'कूकी आइगे' के साथ घर के लड़के-लड़कियाँ रोगी बच्चे को हँसाने के उद्देश्य से प्रातःकाल भगवती का उछलते-कूदते स्वागत करते, तब महाराज अपने बड़े-बड़े दाँत निकाल कर इस तरह हँसते कि उन्हें देखकर घर की मालकिन, जिन्होंने बहुत दिन पहले तुलसीदास की रामायण अर्थों के साथ पढ़ी थी, झुँझलाकर कहतीं—कैसे हँसता है जैसे मेघनाद का सिर।

कूकी हमारे यहाँ लगभग डेढ़ साल से हैं, परन्तु गाँव से शहर आये उन्हें सात-आठ साल हो चुके हैं। हमारे यहाँ आने के पहले वे चौकीदारी करते थे। रात के ग्यारह बजे से चार बजे सबेरे तक मुहल्ले में चक्कर लगाते हुए 'होऽ होऽऽऽ' करते फिरना उनका काम था। इसी की उनको तनख्वाह मिलती थी। रात में कूकी जिनकी रखवाली करते थे, दिन में उन्हीं का सौदा-सुलुफ ला देते थे, और दूसरों से चौथाई पैसे पाकर भी उनसे चौगुना संतुष्ट हो जाते थे। इसीलिए वे सबको प्रिय थे। इस नौकरी के कारण रात में जागने और दिन में सोने का एक बुरा असर उन पर यह पड़ा कि उनके सीधे-सादे देहाती दिमाग की चाल बहुत शिथिल हो गयी और एक साधारण बात समझने में भी वह बड़े आलस्य के साथ आनाकानी करने लगा।

कूकी का सात-आठ साल का शहरी जीवन एकाकी और निर्लेप-सा रहा है। शहर में वे अपने चाचा के साथ एक कोठरी में रहते हैं। बस, चाचा के अतिरिक्त किसी अड़ोसी-पड़ोसी से उनका परिचय नहीं है। जिन दूकानदारों से सबेरे-शाम सौदा खरीदते हैं, उनसे भी किसी तरह की जानकारी बढ़ाने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। उन्हें अपने काम से काम रहता है। इसीलिए उनका व्यावहारिक ज्ञान देहात से नये आये हुए व्यक्ति से भी कम हो गया है,

क्योंकि जो कुछ गाँव से वे सीख आये थे, काफी समय तक व्यवहार में न आने के कारण, वह भी धीरे-धीरे उनके दिमाग से निकल चुका है। यही नहीं, उनके मस्तिष्क में अब नयी बात जल्दी घुसने भी नहीं पाती। इस रहस्य का पता हमें उस दिन लगा जब हमारे घर की बूढ़ी बुआ ने कूकी से दमचूल्हा जलाने को कहा।

प्रेस से मिले हुए कमरे में ही बूढ़ी बुआ रहती हैं। तमाम रद्दी कागज और मशीन के तेल से भीगे काले कपड़े प्रेस से निकलते रहते हैं। इनमें दियासलाई की एक सींक लगाते ही माघ-पूस के जाड़ों में भी आग चटपट तैयार हो जाती है और किसी तरह का झंझट भी नहीं करना पड़ता। कूकी आये-आये ही थे, तभी बुआ ने एक दिन सबेरे कोयलों की डलिया उनके हाथ में देकर कहा—जरा आग तो जला दे भैया।

बड़े उल्लास से कूकी ने 'लाओ बुआ जी' कहकर डलिया उनके हाथ से ले ली और एक किनारे बैठ गये। दूसरी ओर कमरे में हम काम कर रहे थे। बुआ और कूकी, दोनों की बातें हमने सुनीं तो, पर वे इतनी साधारण थीं कि हमने उधर एक बार देखने की भी जरूरत नहीं समझी और हम अपने काम में लगे रहे। लगभग आध घंटे बाद जब धुएँ ने बहुत परेशान किया तो चकपका कर हमने सर ऊपर उठाया और देखा—कूकी दमचूल्हे के ऊपर रखकर कागज और कपड़े जला रहे हैं और धुएँ के मारे आँखें मूँदे, मुँह फेरे हाथ सेंक रहे हैं। आग की लपट उस समय तक बुझ चुकी थी; तेल से भीगे कपड़ों के ढेर से धुआँ निकल रहा था। यह देखकर हमने जोर से पूछा—यह क्या कर रहे हो ?

कूकी ने बड़े इतमीनान से आँखें खोलीं, उठकर खड़े हुए और असफलताजनित निराशा के स्वर में उन्होंने उत्तर दिया—आग जलतै नाहिन है।

यह उत्तर सुनकर उधर से बुआ उठीं और इधर से हम। पास जाकर देखा—कूकी ने दमचूल्हे के नीचे छेद में सब कोयले भर दिये हैं। कोयले चलनी के नीचे और आग लगायी जा रही है ऊपर। इसलिए काफी कपड़े और कागज फूँकने पर भी आग की ऊपर जानेवाली लपट नीचे रखे कोयलों को न जला सकी।

उस दिन हमें पता लग गया कि कूकी के दिमाग में गीला गोबर तो क्या, शायद सूखा भूसा भी नहीं है। हमारे इस अनुमान की पुष्टि में वे

नित्य नया प्रमाण देते रहे हैं। पहले हमारे प्रेस का कंपोज किया हुआ मैटर कभी-कभी दूसरे प्रेस भेजा जाता था। बने हुए पेज वे एक बड़े झउए में रखकर ले जाते और छप जाने पर ले आते। दफ्तरी के यहाँ जिल्द बनने के लिए कागज भेजने के काम भी झउआ आता है। इस तरह हर रोज एक-दो बार उन्हें झउआ ढोना पड़ता है। इस कार्य में उनका मन भी खूब लगता है। एक दिन तीसरे पहर हमने उनसे कहा—जाकर दूकान से 'डाक' ले आओ; आ गयी होगी। आपने बड़ी मुस्तैदी से सर पर रखने के लिए तौलिया उठाकर झउए की ओर इशारा करके पूछा—झउआ लै जाइ ?

प्रेस के सारे कर्मचारी कई दिन तक इस बात की चर्चा करके हँसी उड़ाते रहे। कूकी ने कभी किसी की बात का बुरा हमारे सामने तो नहीं माना, परंतु हमारे पीछे कभी-कभी वह उन लोगों से कुछ अप्रसन्न अवश्य हो जाते थे।

कूकी के धार्मिक विचारों पर ग्रामीण संस्कार और वातावरण का पूरा प्रभाव पड़ा है। वे उत्तम वर्ण में जन्मे हैं, इस बात का उन्हें सहज गर्व है। चौकीदारी उन्होंने ऐसे लोगों के यहाँ की थी जिन्हें लहसुन-प्याज, मांस-मछली, किसी के परहेज नहीं था। कूकी ने अपने सात-आठ साल के शहरी जीवन में कभी उनके यहाँ पानी तक नहीं पिया। हमारे यहाँ आने पर उन्हें प्रेस के थोड़े-बहुत काम के साथ-साथ रोगी बालक को खिलाने का काम भी सौंपा गया था। होता यह था कि जब प्रेस में काम छपानेवाले या मिलने-जुलनेवाले आ जाते तो अपनी शान बढ़ाने के लिए हम कहते—प्रेस का आदमी आपके यहाँ से कागज-वागज ले आयगा। घर में जब पास-पड़ोस की स्त्रियाँ आतीं, तो कूकी को मालकिनों की हाजरी बजानी होती और अपनी-अपनी मिलनेवालियों से सभी कहतीं—अपने नौकर से हम अमुक काम करवा देंगे। इस तरह प्रेस में पुरुष उनके शासक थे, घर में स्त्रियाँ। पर कूकी महाराज इस दोहरे शासन में भी प्रसन्न थे।

उन्हें जब मालूम होगया कि इस घर में प्याज-लहसुन कलिया-मछली का अभी प्रवेश नहीं हुआ है तब उन्होंने हमारे यहाँ खाना-पीना भी शुरू कर दिया। समय कंट्रोल का था ; इसलिए खाना बचने का तो कभी सवाल ही न उठता था जो उनसे 'स्वारथ' करने को कहा जाता। हाँ, कभी-कभी तीज - त्यौहार पर उन्हें थोड़ा-बहुत खिला-पिला दिया जाता था ; सो

भी तिहरे उद्देश्य से। एक तो यह कि वे ब्राह्मण थे और हर तीज-त्योहार में ब्राह्मणों की पूजा-सत्कार करना घर के पढ़े-लिखे लड़कों को नहीं, तो कम से कम स्त्रियों को तो अनिवार्य ही जान पड़ता था। दूसरी बात का जन्म घर की बड़ी-बूढ़ी औरतों के मन में हुआ था। उन्होंने बहू-बेटियों को समझाया—तीज-त्योहार पर चार तरह की चीजें बनती हैं। घर के मर्द खाएँ और यह टुकुर-टुकुर देखता रहे, यह बहुत बुरी बात है। इसके हाथ पर कुछ न कुछ जरूर रख देना चाहिए।

तीसरी बात में सबका लाभ था। कूकी महाराज सबेरे आठ बजे आते थे और बारह-एक बजे खाना बनाने-खाने चले जाते थे। लौटते वे चार-पाँच बजे थे। यह चार-पाँच घंटे का समय देना घर में सबको बहुत अखरता था। बार-बार जल्दी न आने पर अप्रसन्न होकर मालकिन कूकी से पूछतीं—आखिर खाना बनाने-खाने में इतनी देर कैसे लग जाती है? जरूर तू दो-तीन घंटे सोया करता है। आखिर हम भी तो आदमी हैं; हमें तो कमर सीधी करने का समय भी न मिले और तू दो-तीन घंटे पड़ा सोता रहे, यह कहाँ का न्याय है? वास्तव में बात यह थी कि कूकी महाराज जब चौकीदारी करते थे, तभी से उनकी आदत दिन में सोने की पड़ गयी थी और अब तो दिन में सोना उन्हें भोजन से अधिक प्रिय था। इसलिए घड़ी भर कमर सीधी करने के लिए जब वे लेटते, तब तीन घंटे के पहले जाग ही नहीं पाते थे। इसलिए जब-तब उनको घर पर खाना खिला देने का सबसे बड़ा लाभ यह होता था कि फिर उनको छुट्टी देने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती थी और मालिक के यहाँ रहते हुए कमर सीधी करने की बात वे सोच ही कैसे सकते थे।

इस तरह कूकी का हमारे घर में खाना-पीना कभी-कभी हो जाता था। एक बार वे दस-बारह दिन के लिए गाँव गये। लौटकर आये तो घर में कुछ काम-काज था। सदैव की भाँति उनसे भी खाने को कहा गया तो उन्होंने आशा के विपरीत उत्तर दिया—अब हम न खैबे। कारण पूछने पर उन्होंने बताया—हम कंठी लै लीन है। आशय यह था कि हमने गुरु से दीक्षा ले ली है और इसलिए किसी के यहाँ हम खा नहीं सकते।

हमने जिज्ञासा की—कोई चीज भी खा सकोगे या सब बंद?

कूकी महाराज का उत्तर था—दूसर हाथ की मिठाई हम खाय सकित है।

हमने फिर पूछा—मिठाई ! पेड़ा-बरफी या और कुछ ?

कूकी महाराज—मिठाई चही, कौनो होय ।

और सचमुच महाराज ने उस दिन से रोटी-पूरी खाना बंद कर दिया । हाँ, मिठाई वे खा लेते हैं, चाहे अनाज की ही हो । हमें उनकी यह कंठी दो-चार दिन ही खटकी; बाद को खाना खिलाने की बात हम लोग सिर्फ उन्हें चिढ़ाने और उनकी कंठी की हँसी उड़ाने के लिए कहने लगे । पर दो दिन के लिए जब वे हमारे साथ बरात गये तो हमें बहुत खल गया । बरातियों के लिए जो मिठाई आई उसका अच्छा-खासा भाग उनके हिस्से में आया । उस दिन सचमुच कंठी लेने का लाभ हमारी समझ में आया ।

कंठी लेने के पहले कूकी महाराज को अपनी कुलीनता पर गर्व था और हमारे यहाँ रहकर भी वे ऐसा कोई काम नहीं करना चाहते थे जो उनकी उच्च वर्णता की मर्यादा के प्रतिकूल हो । जब वे हमारे यहाँ आये थे और रोगी बालक को खिलाने का भार उन्होंने लिया था, तब हमें इस बात का अनुमान नहीं था कि वे इतने कुलीनताप्रिय होंगे । इसका पता तो हमें बूढ़ी बुआ से लगा । बुआ का नियम है कि धोबी के घर के कपड़े वे धोकर ही काम में लाती हैं; इसके पहले उन्हें छूती भी नहीं । धोबी जब कपड़े धोकर लाता है, तब वे पानी भरी बाल्टी उसके सामने रखकर कहती हैं—इसमें कपड़े डाल दे । कपड़े डाल देना भर धोबी का काम है । इसके बाद कपड़े पानी पर तैरा करते हैं । धोबी को उनकी बाल्टी छूने का अधिकार नहीं है और वे स्वयं धोये कपड़े नहीं छू सकतीं । इसलिए किसी छड़ी से वे कपड़े पानी में डुबो दिये जाते हैं । इसके बाद उन कपड़ों को बुआ पवित्र मान लेती हैं और कभी स्वयं, कभी दूसरों से निचुड़वाकर सूखने के लिए धूप में डाल देती हैं । यही कपड़े निचोड़ने का काम बुआ उस दिन कूकी महाराज से लेना चाहती थीं । महाराज ने दो-तीन बार तो बात सुनी-अनसुनी कर दी; जब जोर से कहा गया तो आप साफ-साफ बोले—हम कपड़ा न धोब ।

बुआ उनका आशय नहीं समझीं । फिर पूछने पर कूकी महाराज ने कहा—काहू के कपड़ा हय नाहीं छुइ सकित है ।

शाम को पता लगने पर अपने मालिकपन के गर्व में हमने महाराज से कड़ककर इसका कारण पूछा । उन्होंने सीधे ढंग से कहा—हमसे फड़ुआ चलवाय लेउ, डलिया उठवाय लेउ, मुदा कपड़े हम काहू के नाहीं छुअब ।

यों हमारे घर सबको आदत अपना कपड़ा स्वयं धो लेने की है और मर्दों को यदि इसके लिए समय नहीं मिलता तो औरतें उनके कपड़े भी धो डालती हैं, परंतु किस बच्चे का कौन-सा कपड़ा कब धोना पड़ जाय यह तो कहा नहीं जा सकता। और फिर घर में नौकर होते हुए कपड़े भीगे पड़े सड़ते-गलते रहें, यह घर की मालिकिन कैसे सहन कर सकती हैं? इसलिए हमने कूकी महाराज को बहुत तरह से समझाया; यहाँ तक कहा कि हमसे दो-चार दिन अपने कपड़े धुलवा लो, तब बदले में बच्चों के कपड़े धो देना, लेकिन कूकी को न पसीजना था, न पसीजे।

दो-एक दिन इस बात को लेकर घर के मालिक-मालिकिन कूकी महाराज से तने रहे; परंतु अंत में उनके निश्चय की दृढ़ता के सामने सबको झुकना पड़ा।

कूकी महाराज ने हमारे यहाँ फड़ुआ नहीं चलाया, डलिया नहीं ढोई, परंतु इसमें संदेह नहीं कि छोटे-मोटे ही नहीं, उस कोटि के काम भी बड़ी मुस्तैदी से करने के लिए वे सदा तैयार रहते हैं। बाजार से दस-पाँच रुपये का अनाज मँगाना हो, दो-चार रुपए की लकड़ी मँगानी हो या बुरादे की बोरी ही लानी हो, कूकी को इशारा कीजिए और वे फौरन तैयार हैं। आलस्य तो उन्हें छू नहीं गया है। हमारी बाबूगीरी कभी कभी उनके देहातीपन की फुर्ती देखकर बुरी तरह लजा जाती है। यह बात नहीं है कि वे सिर्फ मालिक-मालिकिन का ही हुक्म मानते हों; नहीं, घर का बड़ा-बूढ़ा, बच्चा-कच्चा, लड़का-लड़की, कोई भी किसी काम के लिए कह भर दे, बस कूकी उसे पूरा करने के लिए दौड़ पड़ते हैं। उनकी इस सिधाई और मुस्तैदी से घरवाले ही नहीं, पास-पड़ोसवाले भी खुश हैं; क्योंकि उनके भी छोटे-मोटे काम कूकी कर लाते हैं और किसी को कानोंकान खबर नहीं होती।

कूकी महाराज की अवस्था पैंतालिस के करीब है। उन्होंने अभी तक विवाह नहीं किया या यों कहिए कि अभी तक उनका विवाह नहीं हुआ है। और लक्षणों से जान पड़ता है कि आगे भी नहीं होगा। एक दिन इसका कारण पूछा, तो बोले—गाँववाले हमरे बैर परे हैं। जब कौनौ लड़कीवाला आवत है, सब झूठ-सच लगाइकै लौटाय देत हैं।

हमने पूछा—विवाह करने की तुम्हारी इच्छा होती है?

कूकी महाराज मुस्कराये। उनका रूखा देहाती चेहरा कुछ स्निग्ध हो गया। पर वे बोले—अरे, का रखा है बिहाओ माँ। तमाम झंझट हैं, परेसानी है।

कूकी के इस उत्तर से हमें संतोष न हुआ; पर इससे आगे वे न बढ़े और कोई निश्चित उत्तर उन्होंने नहीं दिया। परंतु उनकी आकृति से प्रकट था कि विवाह की स्वाभाविक चाह उन्हें है अवश्य; यद्यपि दुराशा की भयंकरता उनको इस सुखद कल्पना का भी आनंद नहीं उठाने देना चाहती।

विवाह की बात को लेकर कूकी महाराज से विनोद करनेवालों की भी हमारे प्रेस में कमी नहीं हैं। कोई ऐसी विधवा से उनका विवाह करा देने का प्रस्ताव करता है जो दहेज-रूप में तीन काम-काजी लड़कों को साथ ले आयगी; कोई छोटी जाति की ऐसी युवती से जो तलाक की प्रथा का समाज में चलन न होने पर भी तीन पति बदल चुकी है। किसी का प्रस्ताव होता है ऐसी बुढ़िया से विवाह करा देने का जिसकी अवस्था कूकी महाराज से ड्योढ़ी है तो कोई सलाह देता है अनाथालय जाकर पत्नी छाँट लाने की। पहले पहल सभी सुझाव उनके सामने इतनी गंभीरता से रखे गये थे कि उन्होंने सुझावकों को अपना हितैषी ही समझा। बाद में रहस्य समझने पर वे, हमारे सामने तो नहीं, हमारे बाहर जाने पर उनसे काफी बिगड़े। हाँ, कोई तीखा उत्तर उनको अवश्य नहीं सूझा; इसी कारण आज भी विनोदार्थ उक्त या उनसे मिलते-जुलते सुझाव उनके सामने आते ही रहते हैं। अब महाराज भी किसी से नहीं बिगड़ते; वे भी ऐसी बातों में रस लेना सीख गये हैं।

कूकी महाराज कोई ऐसा काम नहीं कर सकते जिसके लिए अक्ल की जरूरत हो; अपने मतलब के मामले में वे बहुत होशियार हैं। घर के एक लड़के का विवाह हुआ। खाना, मिठाई, रुपये, कपड़े जो कुछ मिलना था वह सब ले लेने के बाद आप इस बात पर अड़ गये कि हमका कुछ 'चीन्ह' मिलै का चही। पूछा गया—घर से कोई थाली-लोटा दिया जाय? आप हँसकर बोले—थाली हमका न चही। चाचा के साथ रहित है; दुई मनई के खाए लायक खिचड़ी हुई जाय जोमा, अत्ती बड़ी बटुई देउ हमका। घर की मालिकिन ने पहले तो इसे हँसी समझा; लेकिन जब कूकी अपनी जिद पर अड़े रहे और पतीली लेकर ही माने, तब मानना पड़ा कि देहाती अपने मतलब में चौकस रहता है।

यों कूकी को बहुत कम बातें याद रहती हैं, लेकिन प्रति वर्ष वे तनख्वाह बढ़ाने की बात कहना नहीं भूलते। यह बात कहते समय वे अपनी मुद्रा इतनी दीन बना लेते हैं कि प्रति वर्ष उनके वेतन के आधे से भी अधिक तरक्की के रूप में पानेवाले हम दूसरे-तीसरे वर्ष तो पसीज ही जाते हैं।

एक बार वे बीमार पड़े। बारह-चौदह दिन उन्हें ठीक होने में लग गये। महीने में जब तनख्वाह दी जाने लगी तब उनसे गंभीर होकर हमने कहा—तुम्हारी नागा काट ली जायगी। कूकी बड़े ढंग से बोले—आप तमामन रुपैया तो खरचत हैं रोज। हमरी तनखाह काटि कै आपका तो कुछ मालूम न होई, पर हमार जान निकर जाई। उनका उत्तर सुनकर हमें पूरी तनख्वाह ही देनी पड़ी।

कूकी महाराज ने इतने दिनों में केवल एक काम ऐसा किया है जिससे हमें मानना पड़ता है कि कभी उनके मस्तिष्क में बुद्धि का कुछ अंश अवश्य रहा होगा। एक बार वे घर से दस रुपए का कोई सामान लेने गये। जिस बाजार से उन्हें समान लेना था, वह लगभग दो मील दूर था। वहाँ पहुँचने पर उन्हें पता लगा कि साथ आये हुए रुपयों में एक खोटा है। अब उनके सामने दो रास्ते थे—या तो वे बिना सौदा लिये ही लौट आते या एक रुपए का सामान कम लाते। दूसरी बात के लिए जितनी अक्ल चाहिए थी वह उनमें थी नहीं; इसलिए दस रुपयों में से एक खोटा होने पर शेष नौ भी सुरक्षित लौटा लाना और खाली हाथ चले आना ही उन्हें उचित जान पड़ा। उस बाजार में ही हमारे एक मित्र रहते हैं। लौटते समय कूकी महाराज को न जाने कैसे उनकी याद आ गयी। बस, वे उनके पास पहुँचे और एक रुपया माँगकर पूरे दस रुपए का सामान ले आये और चार मील दोबारा आने-जाने का समय उन्होंने बचा लिया।

कूकी महाराज में दो गुण और भी हैं। एक, वे सच्चे हैं, ईमानदार हैं। दूसरे, वे सीधे-सादे हैं, घर की बहू-बेटियों में रहने लायक हैं। उनमें अक्ल कम है, काम करते समय अपनी तरफ से वे कुछ सोंच नहीं सकते, महीन काम उनसे हो नहीं सकता। परंतु ऊपर की दो विशेषताओं के आगे उनकी सब कमजोरियाँ दब जाती हैं और यह आशा होती है कि शीघ्र ही वे परिवार के प्राणियों से घुलमिल जायँगे।

रोगी

चल होकर भी अचल-सा पड़ा रहनेवाला, चेतन होकर भी जड़वत् व्यवहार करने को विवश, संसार का कदाचित् सबसे निरीह और अभागा प्राणी है वह रोगी जिसके सगे-संबंधी, दवा-दारू करने की बात तो दूर, जिसकी छूत से, छाया से और हवा से भी बचना चाहते हों। उसके शरीर पर बाहर मांस नहीं रह जाता और भीतर रक्त का अभाव रहता है। जो कुछ रक्त बच भी जाता है, उसमें गरमाहट नहीं होती। अगर कभी कठिनता से थोड़ा समय निकालकर, आप उससे मिलने जायें, कुशल-समाचार पूछकर सिद्ध करना चाहें कि हमें भी तुम्हारा ध्यान है, तो आप देखेंगे अपने सामने एक जीता-जागता कंकाल जो करवट लेने को टेक चाहता है, उठने-बैठने को सहारा चाहता है और शरीर की दैनिक आवश्यकताएं पूरी करने के लिए आपकी ओर ताकता है। उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया आपका मुंह निहारती है, हृदय की प्रत्येक धड़कन आपसे सहायता की भिक्षा माँगती है।

यदि आप भावुक हैं तो विस्मयादिबोधक अपूर्ण वाक्यों में उसे उपदेश देंगे; यदि आदर्शवादी हैं तो कष्टों से लड़ने की उसे शिक्षा देंगे; यदि ज्ञानी या दार्शनिक हैं तो संसार की असारता को लेकर वेदांत का सर्वविदित सत्य दोहरायेंगे और यदि व्यावहारिकता में कुशल हैं तो प्रिय लगनेवाले शब्दों में कोरी सहानुभूति प्रकट करके चलते बनेंगे।

शारीरिक दुर्बलता ने उसकी उमंग हर ली है। उल्लास और उत्साह के साथ-साथ आशा से भी अब वह हाथ धो बैठा है। अपने भावी जीवन के लिए कार्यक्रम बनाने का उसमें कोई उल्लास नहीं है; भविष्य में वह जीवित भी रहेगा, इसकी उसे आशा नहीं है। संसार में ऐसे गृहस्थ दार्शनिकों की कमी नहीं है जो अवसर पड़ने पर कहते हैं—तुम कल की कहते हो! कौन जाने यह बबूला कब बैठ जायगा! इसके नाश के लिए कोई कारण भी तो नहीं चाहिए। कौन जाने, जो साँस अंदर जा रही है, वह बाहर भी आयगी या नहीं। परंतु दूसरे ही क्षण योजनाएँ बनाने का प्रश्न आने पर पाँच और दस नहीं, पचीस और पचास वर्षीय आयोजनों की चर्चा करते वे नहीं थकते। इसके विपरीत, रोगी के पास न निजी योजनाएं हैं और न वह आयोजकों की बातों में आनंद ही

लेता है। अपने संबंध में किसी योजना की कल्पना करता हुआ व्यक्ति वास्तविकता का पल्ला अवश्य पकड़े रहता है—संभव है, इसका कारण उसकी तत्संबंधी जानकारी ही हो—परंतु दूसरों को कोई बात समझाते समय वह ऐसा अनुभवी शिक्षक और शुभचिंतक उपदेशक बन जाता है जिसकी बातों की अव्यावहारिकता दूसरे को बार-बार खटकती है।

रोगी के ऐसे उपदेशक मित्रों की कमी नहीं है। जो भी आता है, कुछ न कुछ उपदेश दे ही जाता है। संगृहीत रूप में उसके कुछ मित्रों के विचार इस प्रकार रखे जा सकते हैं—आप खूब फल खाया कीजिए। अच्छा हो कि हर साल पहाड़ चले जाया करें। साल के बाकी महीने गंगा-किनारे काटें तो बड़ा लाभ होगा। गलियों के बीच वाला अपना यह घर छोड़ दीजिए। किसी अच्छे हवादार मकान में रहिए। इस रोग में चिंता से बढ़कर आपका कोई शत्रु नहीं है; उसे तो पास मत फटकने दीजिए। हर समय प्रसन्न रहिए, खूब हँसिए। हँसना तो हजार रोग दूर कर सकता है। और अपने परम हितैषी मित्रों की इन बातों को सुनकर रोगी सचमुच मुसकरा देता; कभी उनकी मूर्खता पर और कभी अपने अभाग्य पर; कभी उनकी अव्यावहारिकता पर और कभी अपनी विवशता पर। इस प्रकार मुसकराने का रहस्य न उसके मित्रसमझते हैं और न वह स्वयं ही उनको जताने की आवश्यकता समझता है। कारण, व्यावहारिक मित्र समझता है कि मुझे यहाँ आकर कुछ न कुछ इसी तरह की बातें करनी ही चाहिएँ और रोगी के निरंतर अनुभवों ने उसे सिखला दिया है कि लोकाचार के नाते ये लोग यहाँ कुछ न कुछ इसी ढंग से कहने के लिए ही आते हैं।

एक समय था जब उसके मित्रों की कमी नहीं थी। रंगभरी युवावस्था में रसिक मित्रों का साधारणतः किसी को अभाव नहीं रहता; फिर रोगी तो सदा से भावुक रहा है, पर्यटनप्रेमी, मिलनसार, और सरल हृदय रहा है। ऐसे व्यक्ति के संपर्क में जो अनायास भी आ जाता है, शीघ्र ही चिरपरिचित और अभिन्नहृदय बन जाता है। रोगी के भी घनिष्ठ मित्रों की संख्या पर्याप्त थी। और उसे अपने मित्रों पर असीम विश्वास था, अपार स्नेह था; उनकी अभिन्नहृदयता पर अद्भुत गर्व था। कई मित्रों का तो रोज ही साथ उठना-बैठना, साथ हँसना-बोलना, साथ खाना-पीना था। आज वे सब उसे भूल चके हैं;

जो शहर में हैं वे तो निजी कार्यों में व्यस्त हैं ही; जो बाहर हैं वे भी व्यस्त हैं। शहर वालों को उसके पास आने का समय नहीं है, न बाहरवालों को दो पैसे का कार्ड लिखने का। एक दिन किसी ने रोगी से पूछा—ये लोग शायद इसलिए आने-जाने से घबड़ाते हों कि कहीं इस असहाय अवस्था में तुम उनसे कुछ माँग न लो। रोगी ने उत्तर दिया—कह नहीं सकता, यहाँ क्यों नहीं आते। बहुत संभव है, ये सचमुच अपने झंझटों में फँसे हों; उन्हें समय न मिलता हो। अपने उत्तर का अंतिमांश रोगी मुस्करा कर कहता है जिसका संकेत यह है कि अपने मित्रों को मैंने खूब समझ लिया है। अब उनकी हँसी उड़ाने से लाभ क्या! यहाँ नहीं आते तो हानि ही कौन सी है? कहीं रहें, खुश रहें।

परंतु रोगी का आलोचक तो उसे सहज में छोड़ने का नहीं। दो-चार इधर-उधर की बातें करने के बाद वह फिर सहानुभूति और मित्रता की बात छेड़कर पूछता है कि इस संबंध में तुम्हारे अनुभव क्या हैं? सरलहृदय रोगी निष्कपट भाव से कहता है—सारी दुनिया मुझे मूर्ख समझती है। जो मेरे जितना ही निकट है, उसकी दृष्टि में मैं उतना ही बड़ा मूर्ख हूँ। सहानुभूति मेरी समझ में थोथे शिष्टाचार का शब्द है, जिसका प्रयोगकर्त्ता इसके द्वारा बड़ी सरलता से अपने को बहुत से झंझटों और परेशानियों से बचा लेता है। 'मित्रता' सुखी दिनों के संबंध की घनिष्ठता का नाम है। मेरे जो अभिन्न थे, आज परिचित मात्र हैं, और जो परिचित थे, वे अनजान हो गये हैं। पर मुझे किसी से शिकायत नहीं है। दुखी का साथ दस-पाँच दिन, दो-चार सप्ताह, एक-दो महीने ही दिया जा सकता है। पर मेरी कोई कहाँ तक सहायता कर सकता है? अंत भी तो हो कुछ इस बीमारी का!

आज का रोगी जन्म से स्वाभिमानी रहा है; दूसरे के आगे हाथ फैलाना किसी से कुछ माँगना, दूसरे को खुश करने के लिए उसकी लल्लो-चप्पो करना, अँगूठा चूमना उसने सीखा ही नहीं था। इस दृष्टि से लौकिक व्यवहार में वह सदा असफल रहा और आज भी सफल नहीं है। उसने ऊँची शिक्षा प्राप्त की, दुनिया का अनुभव प्राप्त किया; परंतु स्वाभिमानी होने के कारण वह ऊँचा पद न पा सका। स्कूल की साधारण मुदर्रिसी में उसके जीवन के वे दिन कटे, जब उसके शरीर में बल था, मन में कुछ करने की 'उमंग' थी, बुद्धि में

तीव्रता थी, हृदय में उत्साहमय आशा थी। पिता की मृत्यु के बाद इने-गिने पैसों से—रुपयों से नहीं—उसने स्वतंत्र जीवन आरंभ किया। दिन-रात एक करके, मर-पच कर, अपनी वृत्तियों पर कठोर नियंत्रण रखकर, साधारण भोजन पर सोलह-सोलह घंटे परिश्रम करके, उसने अपनी स्त्री को, अपने दुधमुँहे बच्चों को सुखी बनाया। वह चाहता था कि स्त्री को यह सोचने का अवसर न मिले कि मैं कैसी अभागी थी जो इसके पाले पड़ी, बच्चे यह न सोचें कि हम कैसे अभागे थे जो इसके यहाँ पैदा हुए।

उसका जीवन कितना व्यस्त था, इसका अनुमान केवल इसी बात से हो सकता था कि दिन भर के किसी न किसी कार्यक्रम को हटाये बिना वह दस मिनट का समय नहीं निकाल पाता था। उसके एक मित्र ने एक संस्था की स्थापना की थी। एक दिन उन्होंने कहा—दस मिनट का समय रोज इस संस्था को भी दे दिया करो। रोगी ने उस समय तो कोई उत्तर न दिया; दूसरे दिन अपनी दिनचर्या का पूरा विवरण लिखकर दे दिया और कहा—इनमें से जो काम अनावश्यक समझते हों, काट दीजिए। वह समय आपकी संस्था को दे दूँगा। कार्यक्रम हाथ में लेकर मित्र ने देखा कि बीड़ी पीने के दो- दो मिनट तक का हिसाब उन्होंने रखा है। उन्होंने साश्चर्य कार्य-क्रम लौटा दिया। मन में सोचा—एक हम लोग हैं जो समय का मूल्य समझते ही नहीं, हमारे पास जो चीज सबसे फालतू और सस्ती है, वह है समय। और एक ये महाशय हैं जो दिन-रात का एक मिनट भी व्यर्थ नहीं होने देते। प्रकट रूप से उन्होंने कहा—आप ऐसे लोगों को हमारी संस्था में आने की जरूरत नहीं हैं। आप तो तेली के बैल हैं। चौबीसों घंटे पिसते रहने के लिए संसार में आये हैं।

अपनी वर्तमान निरीह अवस्था में भी वह स्वाभिमानी है। उसे अभी पीसना है और उसके लिए बहुत जीना है। वह पीसने के लिए तैयार है और जी रहा है यद्यपि दशा उसकी जीवित प्राणी की सी नहीं है। यही नहीं कि उसे 'ह्वैहैं फेरि बसंत रितु इन डारनु वै फूल' की आशा है; प्रत्युत इसलिए कि उसका सांसारिक कर्तव्य अभी पूरा नहीं हुआ है; उसके बच्चे अबोध हैं, अशिक्षित हैं। उन दुधमुँहे बच्चों से वह अपनी सेवा कराता है, जिनकी सेवा उसे स्वयं करनी चाहिए थी और जो प्रत्येक माता-पिता के लिए परम आनंद की, उल्लास की बात होती है। जब वह स्वस्थ था तब उसने अपने बच्चों के भविष्य को लेकर बड़ा चिंतन किया

था। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि मेरा जीवन तो व्यर्थ गया ही, कम से कम इन बच्चों का तो भविष्य बना दूँ। आदर्श उसका था अपने बच्चों को कलाकार बनाना मनुष्य बनाना और देश की आवश्यकता के अनुसार सच्चा नागरिक बनाना। परंतु सभी बातें मन की मन ही में रह गयीं; एक भी पूरी न हुई। कभी कभी उसे ध्यान आता है—पिता होने के नाते मेरा उनके प्रति क्या कर्तव्य था ? सभी चीजों के लिए जब उन अबोधों को मन मारना पड़ता है, अपने समवयस्कों में जब वे अपने को सबसे सम्मानहीन पाते हैं, तब क्या क्या विचार उनके मन में उठते होंगे ? मेरे संबंध में, मेरी निरीहता, निष्ठुरता और हृदयहीनता के संबंध में वे क्या सोंचते होंगे ? ये विचार उसके हृदय को मथ डालते हैं। अब तो वही रोगी, जो किसी की सहायता नहीं चाहता था, किसी के दान पर जीना जिसे भार प्रतीत होता था, दूसरों का मुखापेक्षी है। प्रसंग छिड़ने पर बड़े संकोच के साथ, हृदय पर पत्थर रखकर, परंतु दृढ़ और स्पष्ट शब्दों में, वह आपसे कहेगा—मैं आज अपाहिज हूँ; परंतु मुझे अपने बच्चे पालने हैं। इसके लिए मैं आपकी सहायता तो चाहता हूँ, परंतु तिरस्कार के साथ नहीं। और सहायता का केवल अर्थ से ही संबंध नहीं है। आप मुझे केवल प्रेममय सहानुभूति ही प्रदान करें; मैं संतुष्ट हो जाऊँगा। आपका प्रेमपूर्ण व्यवहार कवच बनकर दुख के प्रहारों से मेरी रक्षा करेगा। मैं संकट की भयानक स्थिति में भी आपके प्रेम के बल पर साहस से विचर सकूँगा। मुझ पर प्रेम बनाये रहें और इसके लिए आपको यहाँ आने की भी आवश्यकता नहीं है। प्रेम का संबंध आत्मिक है। आपका प्रेम घर बैठे रहने पर भी मुझे सबल बनाता रहेगा।

यदि आपके पास हृदय है तो रोगी के दुख का भार हलका करने की सहज भावना का उसमें उदय अवश्य होगा। संभव है, उसकी क्षणिक प्रेरणा से अथवा उसके केवल आवेश में ही आप रोगी से पूछ बैठें—मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ? आपका दुख किसी प्रकार बटा सकता हूँ ? उस समय रोगी का निश्चित उत्तर होगा—मेरा दुख कोई बाँट नहीं सकता। और मैं चाहता भी नहीं हूँ कि जिन दुखों ने मुझे संसार की वास्तविकता से परिचित कराया है, वे मुझसे अलग किये जायँ। (हँसकर) शारीरिक कष्टों का मैं आदी हो गया हूँ। उनकी मुझे परवाह नहीं है। खाट पर पड़े रहना है ही मुझे; अगर मेरे दोनों हाथ हैं तो वाह-वाह और एक ही है तो भी वाह-वाह। (पुनः मुसकराकर) शरीर के अवयव ही अपना साथ नहीं दे रहे हैं, इस विडंबना का भी कुछ अंत है !

मान लीजिए, आप साधनसंपन्न हैं; दो-चार की रोजी लगा देना आपके हाथ में है। रोगी से भी आपका पुराना परिचय है। यद्यपि आज उसके अन्य मित्रों की तरह आपकी भी उसके प्रति सच्ची सहानुभूति नहीं है, फिर भी केवल कौतूहलवश आप उसके यहाँ पहुँच जाते हैं। बात चलने पर आपकी संपन्नता रोगी से एक प्रश्न पूछने के लिए आपको प्रेरित करती है—अमुक काम आप कर सकेंगे ? रोगी का उत्तर होगा—कर सकने का मेरे सामने प्रश्न ही नहीं उठता। मुझे काम बताइए और पैसे दीजिए। जीने की बात तो दूर, मैं मरने के बाद भी काम करते रहना चाहता हूँ; क्योंकि मुझे अपने बच्चे पालने हैं। (शांत स्वर में) अपने बच्चे सभी को प्यारे होते हैं, मुझे भी प्यारे हैं। मेरे जीवनकाल में ये नन्हें नन्हें बच्चे सुखी नहीं हो सके; तो कम से कम वे इस योग्य हो जायँ कि मेरे मरने के बाद तो सुख से रह सकें। (पुनः कुछ रुककर) अपने बच्चों की चिंता में घुलने लगता हूँ तो, मैं जानता हूँ कि लोग मुझे मूर्ख समझते हैं। इसका प्रमाण वे देते हैं कि मैं बच्चों के लिए सौ वर्ष आगे की बात सोचता हूँ। परंतु उनकी बातों का मैं कुछ बुरा नहीं मानता। कारण, मैं जानता हूँ कि वे पिता तो हैं, परंतु उनके पास पिता का वह हृदय नहीं है जो रोगी के भी वात्सल्य का मान कर सके।

आपको बात बढ़ाने का अवसर मिल सकता है। इसी प्रसंग में शुभचिंतक के स्वर में आप परामर्श दे सकते हैं—तुम्हारा सोचना बिलकुल ठीक है। बच्चों के भावी जीवन को सुखमय बनाना निस्संदेह तुम्हारा लक्ष्य रहना चाहिए। परंतु ऐसा तो तुम तभी कर सकोगे जब तुम्हारा यह शरीर बना रहे। अपने लिए मत जियो, परंतु अपने बच्चों की सेवा के लिए तो इस शरीर को बनाए रखो। थोड़े बहुत पौष्टिक पदार्थ खाया करो। हमने सुना है कि तुम अपना फल-दूध बच्चों को बाँट देते हो, यह कहाँ तक उचित है ? वे तो पानी पिएँ तो खून बन जायगा; उनकी अवस्था ही ऐसी है। परंतु तुम दूध भी पियो तो पानी बनकर ही रह जायगा। इसलिए समझदारी से काम लो कि कौन कौन चीज किसके लिए उपयोगी है।

रोगी आपका तर्क सुनकर हँस पड़ेगा। उसकी हँसी इस बात की द्योतक होगी कि आपने केवल वस्तु की उपयोगिता पर दृष्टि रखी है, स्थिति की वास्तविकता और प्रस्ताव की व्यावहारिकता पर ध्यान नहीं दिया है।

अतएव विनयपूर्वक वह आपसे कहेगा— एक फल मुश्किल से रोज मैं खरीद पाता हूँ। बच्चों को पैसा खरचने को मिलता नहीं। जब फल मेरे लिए आता है तो माँ की घुड़कियों की परवाह न करके वे किसी न किसी बहाने से मेरे पास आना चाहते हैं। बतलाइए, उस समय क्या करूँ? उनको दिखा-दिखाकर खाऊँ? उनसे कहूँ कि मैं फल खाऊँ, तुम पानी पियो; क्योंकि दोनों का फल—रक्त-वृद्धि—समान ही होगा?

रोगी की बात सुनकर, वस्तुस्थिति समझकर जब आप हतबुद्धि-से रह जायँगे तभी वह मुस्करा पड़ेगा। उसके शब्द होंगे—मैंने अपनी बीमारी के शुरू में, उसे रोकने के लिए, अपने शरीर को पुष्ट बनाने के उद्देश्य से, इतने फल खाये जितने जीवन भर में सम्मिलित रूप से न खाये होंगे। उतना पौष्टिक भोजन बड़े-बड़ों को नहीं मिलता; अतएव अब तो उसके प्रति मुझे विरक्ति न कहें तो न सही, पर उदासीनता अवश्य हो गयी है।

और रोगी की स्त्री? लगभग तीस वर्ष की युवती, तीन छोटे बच्चों की माँ, जिसका लालन-पालन साधारण स्थिति के घर में हुआ, जीवन के सुखों के लिए जिसकी सारी आशाएँ ससुराल पर केंद्रित की गयी थीं, अपने पति को इस तरह न जाने कितने समय के लिए पड़ जाते देख मन में क्या सोचती होगी? रक्त और मांस की वह भी बनी है। उसके मन में भी चाह है, लालसा है, कामना है। उसने अवस्था पायी है, दुनिया देखी है, नयी रोशनी के सखी-समाज से उसका भी व्यवहार रहा है। उसके भी कुछ विचार हैं, उद्देश्य हैं, लक्ष्य हैं। वह भी संसार में कुछ करना, कुछ देखना चाहती है। परंतु उसकी समस्त लालसाओं पर पानी फिर गया है; उसकी आशा-लता पर तुषारपात हो गया है। पति के अनंत रोग ने उसके भावी जीवन को ही नहीं, वर्तमान को भी अंधकारमय बना दिया है।

रोगी की पत्नी में भारतीय नारी की संस्कारजन्य विशेषताएँ वर्तमान हैं। उसके विचारों और आदर्शों पर उस वातावरण का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था, जहाँ पति को परमेश्वर माना जाता है। अतएव पति के रोगी होने पर मनसा-वाचा-कर्मणा से वह उनकी सेवा में लग गयी; दिन-रात एक करके, अपने सुख और विश्राम की जरा चिंता न करके, उसने पति को रोग से मुक्त कराने का प्रयत्न किया। जप, व्रत, नियम, संयम, देवी-देवताओं की

सेवा-मानता, सभी कुछ उसने इस विश्वास पर किया कि यदि मेरे नहीं तो इन दुधमुहें सुकुमार कीड़ों—बच्चों—के भाग्य से तो ये अच्छे हो ही जायँगे। परंतु प्रकृति के नियम बड़े कठोर हैं और साथ ही, बड़े निष्पक्ष भी। उनमें न किसी प्रकार के अपवाद के लिए स्थान है और न वे धन-पद, मान-मर्यादा, योनि-अवस्था आदि का ही ध्यान रखते हैं।

पत्नी की समझ में जिस समय यह रहस्य आ गया, उसके धैर्य का अंत हो गया; उसकी सहनशीलता क्षमा की शीतलता खो बैठी; वह विक्षुब्ध हो उठी; बच्चों से, अपनों और परायों से, यहाँ तक कि निज से भी वह असंतुष्ट हो गयी। अतः उसका सारा प्रयत्न इस अर्थ में व्यर्थ ही सा रहा कि अपने पति को भयानक रोग से वह मुक्त नहीं करा सकी। इसके लिए उसको अथवा उसके भाग्य को दोषी ठहराने के लिए हम पूर्ण स्वतंत्र हैं।

कह नहीं सकते कि भावुक और कविहृदय, परंतु आदर्शवादी रोगी कहाँ तक अपनी पत्नी को अपराधी समझता है; परंतु इतना निश्चित है कि पत्नी की मानसिक स्थिति से वह पूर्णतया अवगत नहीं है, अतएव जो कुछ उसने पति के लिए किया है, उससे भी वह संतुष्ट नहीं है।

सनातन धर्मावलम्बी परिवार में पलकर हमारा रोगी आरंभ से ही पूर्ण आस्तिक, श्रद्धालु भक्त और उदार व्यक्ति रहा है, यद्यपि शिक्षा, संस्कार और परिवर्तित परिस्थिति ने उसे धर्म-संबंधी पाखंडों का विरोधी भी बना दिया था। उसकी धर्मभीरुता ने किसी प्राणी को सताने, किसी की हानि करने अथवा किसी को अप्रसन्न करने से भी सदा रोका; उसके सद्विचारों ने सदा सत्पथ पर ही चलने को उसे उत्साहित किया और इस संबंध में उसने सदा आत्मा की आज्ञा मानी। परंतु फल इन सबका उसे मिला अनंत रोग के रूप में जिसने उसके समस्त परिवार के साथ-साथ परिचितों-अपरिचितों सभी को उबा दिया। फलतः उसकी आस्तिकता की जड़ हिल गयी। ईश्वर के अस्तित्व पर उसे अविश्वास होने लगा; कम से कम उसकी दयालुता और उसके दीनबंधुत्व पर उसे विश्वास न रह गया। संसार के प्रत्यक्ष ने कल्पित स्वर्ग के सुख-स्वप्न को भुलाने के लिए उसे विवश कर दिया। वह सोंचने लगा—संसार क्या है ? एक मूक प्रश्न जिसका समाधान नहीं हो सकता। यहाँ किसी की इच्छाएँ सीमित नहीं रहतीं; यह प्रत्येक को कामना के लिए उत्साहित करता रहता है—प्राणी के हृदय में

सफलता की आशा जन्माता है और मिथ्या मृगमरीचिका के पीछे भटका कर भूखा-प्यासा मार देता है। यहाँ पग-पग की निराशा बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी सचेत नहीं होने देती; भ्रम में उलझाये रहती है। प्रेमी को यहाँ प्रिय पात्र से प्रेम का प्रत्युत्तर नहीं मिलता। संक्षेप में, संसार दूसरों के क्रोध पर मुस्कराता है, असफलता-जनित पीड़ा से तड़पते देखकर अट्टहास करता है।

रोगी के ये विचार स्थायी नहीं हैं। समय की प्रत्येक करवट इन्हें चढ़ाती-उतारती रहती है। आजकल सौभाग्य से उसे एक तत्वज्ञानी के संपर्क में आने का अवसर मिल गया है। फलस्वरूप रोगी को कुछ आत्मिक शांति मिली है और उसे विश्वास है कि अब वह लौकिक क्लेश, कठिनाई और तज्जनित चिंता से बहुत-कुछ मुक्ति पा सकेगा। आइए, यदि हमसे कुछ और न बन पड़े तो मानवता की माँग पूरी करने के लिए हृदय से इतनी कामना तो अवश्य करें कि रोगी की यह सुखदायिनी आशा इसी प्रकार उसके रसहीन जीवन भर हरी-भरी रहे।

---

(६) विविध

पान

पान शृंगार का एक प्रसाधन है और शृंगार है विलास की भावना का उत्तेजक। परंतु पान में कुछ ऐसी व्यापक सात्विकता है कि रसिकजन शृंगार के लिए, भक्त-जन भगवान के प्रसाद-रूप में और साधारण जन मुख-शुद्धि के लिए इसकी चाह रखते हैं।

पान खानेवालों के दो वर्ग हैं—एक की तृप्ति सीधे-सादे ढंग से लगा पान खाने से ही हो जाती है; दूसरे को सुरती, तंबाकू या किवाम डालकर उसे जहरीला बनाये बिना मजा नहीं आता। पहला वर्ग केवल मुख-शुद्धि के लिए पान खाता है; इसलिए दो-चार मिनट में ही बेरी की पत्ती की तरह उसे चबा डालता है। दूसरा वर्ग जहरीले पान को मुँह में धीरे-धीरे घुलाकर उसका मजा लेता है; दो - एक पीकें थूककर और दो-एक निगलकर हल्की-हल्की मस्ती में झूमने लगता है। इनके अतिरिक्त एक और वर्ग उन लोगों का है जो पान की सिर्फ पत्ती चबाते हैं, इसलिए कि उसके पोषक तत्व तो उन्हें प्राप्त हो जायें; परंतु कत्थे-चूने-सुपारी से होनेवाली हानि से वे बचे रहें। इस वर्ग की गिनती यदि आप उन लोगों में करें जो नीबू की पत्तियों को सूँघकर विटामिन पाते हैं, घी की खुशबू से पौष्टिकता, सेव-संतरे के स्पर्श से ताजगी, आम-खरबूजे के दर्शन से स्वाद और सूर्य के प्रकाश से स्वास्थ्य-संरक्षा के तत्व, तो इन पंक्तियों के लेखक को कोई आपत्ति नहीं होगी।

पान के किसी शौकीन से कहिए—पान खाने से अमुक-अमुक हानियाँ होती हैं। अगर वह कच्चा शौकीन होगा तो आपके तर्कों का उत्तर देकर बेकार का सर-दर्द मोल लेगा; पक्का होगा तो सिर्फ मुस्कराकर रह जायगा और उसकी मुस्कराहट से ध्वनि निकलेगी—

सकल पदारथ हैं जग माँहीं, करमहीन नर पावत नहीं।

पान के लाभों की गिनती नहीं हो सकती। जितने खानेवाले आपको मिलेंगे उनसे दस-पाँच ज्यादा ही लाभ आपको बताये जायेंगे—मानना न मानना आपकी बात है। युवक-युवतियाँ उसकी लाली शीशे में देखने के लिए;

बूढ़े-बुढ़ियाँ बीते दिनों की रंगीन यादें बनाये रखने के लिए; वकीलों, डाक्टरों, पत्रकारों और अध्यापकों में कुछ पिचके गालों को फुलाने के लिए और कुछ मुफ्त के पान खाने का अभ्यास बनाये रखने के लिए पान खाते हैं। इसी प्रकार दूकानदार, धनी और पूँजीपति फूले गालों को श्रमिक वर्ग के रक्त से सिंची मूँछों से मुख की लाली की होड़ देखने और ईश्वर-प्रदत्त तो कम, स्व-अन्वेषित हथकंडों से अर्जित अधिक ऐश्वर्य का सुख भोगने के लिए पान चबाते हैं। एवं लेखक और कवि विविध नैत्यिक और नैमित्यिक चिन्ताओं से जर्जरित मन को भुलावा देकर संघर्षपूर्ण जगत के कठोर प्रत्यक्षवाद के भग्नकारी थपेड़ों से बचकर, कल्पना-संसार के सुन्दरतम प्रासाद में दुग्ध-धवल शैया पर नवनीत-निर्मित कांता सहचरी के संयोग का परम पुलककारी और अत्यंत मनोहर स्वप्न तंद्रिल की सुदूरदर्शिणी दृष्टि से निहारने-निहारते पलक मूँद लेने की चाह का अभिनय भर करते रहने के लिए पान खाया-खाया करते हैं।

सामान्य व्यक्ति को उक्त लाभों में से चाहे एक की भी चाह न हो, परंतु विशिष्ट व्यक्ति तो इनमें से एक न एक की कामना किये बिना पान का पूरा-पूरा मजा ले ही नहीं सकता। इस प्रकार 'पान' खाने से नहीं; उसके विषय में लिखी इन पंक्तियों को पढ़ने से भी एक लाभ यह है कि आप अपनी सामान्यता या विशिष्टता की परख सहज ही कर सकते हैं।

पान खाने का शिष्ट सामाजिक ढंग यह है कि आस्वादक अपने ओठों को, बारबनिताओं के लालिमायुक्त अधरों से स्पर्धा करने का लोभ संवरण करने को, विवश कर सके। इस ढंग की खूबसूरती यह है कि यदि पान को भीतर ही भीतर घुलते रहने देकर मुँह बंद कर लिया जाय तो आपके ओठ, देखनेवाले से यह ढिंढोरा न पीटते फिरें कि आप पान खाये हुए हैं। पान से चिढ़नेवाले बुजुर्गों की निगाह से बचे रहने में भी यह ढंग कभी-कभी बहुत काम आता है।

और पान खाने की अशिष्ट तथा अशोभन रीति वह है जब ऊपरी और निचले ओंठ ही नहीं, उनके भी कुछ ऊपर-नीचे का भाग इस भद्देपन से रँग जाय कि वह लाली उसके शौकीन की कुरुचिप्रियता का ढिंढोरा जमाने में पीटती फिरे। इस तरह के शौकीनों को ध्यान रखना होगा कि रूप के प्रेमी लालिमा की एक हल्की रेखा पर तो कभी-कभी बेतरह और बरबस रीझते हैं, लेकिन लाली-पुता चेहरा उनकी विरक्ति ही जाग्रत कर पाता है।

दिन में खाये जानेवालों पानों की संख्या के अनुसार यदि उसके प्रेमियों का वर्गीकरण किया जाय तो, स्थूल रूप से उनको दो वर्गों में रखा जा सकता है। पहले वर्ग में वे लोग आते हैं जो पैसा खर्च करके पान खाने के शौकीन हैं। ये लोग अपने खाने में ही नहीं, दूसरों के खिलाने में भी अपार सुख का अनुभव करते हैं। दूसरे वे लोग हैं जो सिर्फ मुफ्त के मिले पान खाने भर के शौकीन होते हैं और आपने इनसे पान खाने का संकेत किया नहीं कि एक-दो बार हाँ-ना करके आपको कृतार्थ करते हुए मेंहनत की कमाई का सदुपयोग करने का अवसर आपको प्रदान करने को तत्पर हो जाते हैं। इन मुफ़तखोरों की चर्चा से पान का मजा किरकिरा न हो जाय, इसलिए इसे छोड़कर उसके सच्चे प्रेमियों का ही विवरण देना उचित होगा।

पैसा खर्च कर पान खानेवालों में कुछ लोग दिन में दो या तीन ही पान लेते हैं—प्रायः भोजन के बाद। स्वाद या शृंगार से अधिक इनका ध्यान मुख-शुद्धि की ओर रहता है। इन लोगों को पान का सात्विक सेवी कहा जा सकता है। इस वर्ग के कुछ शौकीन पंद्रह-बीस पान तक दिन भर में खा जाते हैं। भोजन के उपरांत मुख-शुद्धि के अतिरिक्त कभी इनका ध्यान उसका घुलता हुआ स्वाद लेने में लगा रहता है, कभी प्रियतम पात्रों और मित्रों के साथ पान खाकर और खिलाकर निष्कपट आत्मीयता का परिचय देने में। ऐसे लोगों की गणना राजसी सेवियों में की जा सकती है। तामसिक वर्ग में इस दल के वे लोग आते हैं जो पान पर ही जीते हैं। दिन में कितने पान ये लोग चबा डालते हैं, इसकी ठीक-ठीक गिनती नहीं की जा सकती। इनकी पहचान यह है कि आप सोते-जागते हर समय इनके मुँह में पान दबा पायँगे। दिन में यदि इनको कुछ देर पान न मिले तो ये पागल हो जायँ; रात में मुँह खाली रहे तो नींद न आ सके। इनकी तुलना कभी-कभी तो उन नशेबाजों से करने को आप विवश हो जायँगे, जो नशा न पाने पर अपना ही मुँह नोचने को तैयार हो जाते हैं। सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य, पान के इन सच्चे प्रेमियों की संख्या, संघर्ष और महँगी के इस युग में, दिन-दिन कम होती जाती है।

सभी प्रकार के आकर्षणों के केंद्र जैसे निश्चित हो जाते हैं वैसे ही पान के शौकीनों के तँबोली भी स्थायी होते हैं। कुछ दुनियादार और व्यवहारकुशल लोगों को यदि आप पान की डिबिया साथ रखते देखेंगे, तो बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की भी मिलेगी जिन्हें पान चाहिए—कोई भी

लगाये, कोई भी खिला दे। लेकिन उनके सच्चे शौकीन तो वे ही माने जाएँगे जो मील दो मील का चक्कर खाकर भी उसी दुकान पर पहुँचते हैं जिसके पान इनको भा गये हैं। ऐसे दुकानों के मालिकों या मालकिनों के नखरों से भी पान का कोई शौकीन कम से कम एक लेख का मसाला तो पा ही सकता है।

पान के मसालों के अनुपात के संबंध में भी कुछ जानना जरूरी है। कत्था, चूना, सुपारी, इलायची, लौंग, सौंफ, केसर, जावित्री, जायफल, कस्तूरी, गरी, ठंढक, सोने-चांदी के वरक आदि चीजों की गिनती पान के मसालों में है। इन चीजों के भी कई-कई प्रकार हैं और इनसे तरह-तरह के मिश्रण भी बनते हैं। इनमें से बहुतों के बिना भी आपका काम मजे से चल सकता है; यहाँ तक कि डली या सुपारी के बिना भी लोग काम चलाते देखे जाते हैं। लेकिन जिन चीजों के न होने पर पान बन ही नहीं सकता वे हैं कत्था और चूना। इन्हीं के अनुपात पर उसका सारा मजा निर्भर रहता है। कत्था ज्यादा हो तो पान में न रंग आयगा न स्वाद, चूना ज्यादा हो तो दो-चार दिन के उपवास का सामान हो जाय। असली मजा तो इन दोनों के समानुपात में आता है और तभी माघ-पूस के जाड़ों में माथे पर आप पसीना देख सकते हैं और बूढ़ी नसों में रक्त की गरमी दौड़ जाने का भी अनुभव कर सकते हैं।

अंतिम बात है पान के मूल्य की। आज के जमाने में भी एक पैसे से लेकर पाँच रुपए तक का पान मिलता है। दो-चार आने का एक पान तो सभी शौकीनों ने खाया होगा, लेकिन इससे अधिक मूल्य के पान की कहानी भर इन पंक्तियों के लेखक ने सुनी है। कहते हैं, लखनऊ के नवाब वाजिदअलीशाह पान के इतने शौकीन थे कि दिन भर में पचासों पान ऐसे खा जाते थे जिनका मूल्य उस जमाने में भी पाँच रुपए से अधिक होता था। एक दिन उनके चूसे हुए पान का फिचकुर चबाकर ही एक धोबी इतना मस्त हुआ कि बीबी को पीट-पाट कर उसने उसका भी फिचकुर निकाल दिया। ऐसे पानों में न जाने कितनी पौष्टिक और उत्तेजक भस्में डाली जाती हैं। कोई शौकीन इस चर्चा से ऐसे पान खाकर नया अनुभव प्राप्त करने को लालायित न हो, इसीलिए उक्त किंवदंती की ओर संकेत करना आवश्यक समझा गया है।

परंतु सच्ची यह बात है कि एक पैसे से लेकर पाँच या सात रुपए तक दे देने पर भी आप हर एक के पान का मूल्य नहीं चुका सकते। 'एक पान ही खा लो'—अपने किसी प्रिय पात्र के मुख से सुने हुए इस वाक्य का मूल्य क्या रुपए

पैसे में आँका जा सकता है ? यदि आप पान खाने के शौकीन नहीं हैं, तो मेरा दुर्भाग्य कि इस छोटे से वाक्य से प्रकट होनेवाली आत्मीयता का अनुभव आप नहीं कर सकते। परंतु यदि आपको पान का शौक है और आपने हरे पत्ते, सफेद चूने और दूधिया कत्थे को मिलकर गोरे ही नहीं, श्यामल ओठों को भी वह लालिमा प्रदान करते देखा है जो देखनेवालों की आँखों में भी अनुराग की लाली भर देती है तो आप सहज ही समझ सकेंगे कि कोई हृदयहीन दुनियादार ही गिलट या चाँदी के टुकड़ों में इनका मूल्य आँकने का निर्मम और निष्ठुर साहस करेगा। वस्तुतः ऐसी स्नेहमयी भेंटों का मूल्य तो एक मंद मुस्कराहट के साथ वह सहर्ष स्वीकृति ही है जो उभय पक्षों के हृदयों को पुलकित कर देती है।

यहाँ मैं बीड़ा देने और बीड़ा उठाने की बात नहीं कह रहा हूँ; क्योंकि उसमें तो एक प्रकार की प्रतिद्वंद्विता की कड़वाहट यदि एक के मुँह को लाल करती है तो दूसरे के मुँह को पीला या सफेद। मैं तो उस पान की बात चला रहा हूँ जिसे किसी से पाकर तो आप अपना भाग्य सराहते ही हैं; किसी को देकर भी फूले नहीं समाते और बार-बार ऐसे अवसरों की चाहना किया करते हैं। हमारा पान प्रेम का प्रतीक है जो देनेवाले और पानेवाले, दोनों के मुख की लाली बनाये रखता तो ही है, उसे कभी-कभी और भी गहरा कर देता है।

वणिक् वृत्ति

जाड़े की ऋतु, सर्राटे की हवा और उस पर दो-तीन घंटे से बराबर हो रही बूँदाबाँदी। कमरे के तीन ओर के द्वार बंद कर रखे थे। पश्चिम की ओर का सिर्फ एक द्वार इसलिए खुला था कि काम के लायक रोशनी आती रहे और दिन में ही बिजली जलाने की जरूरत न पड़े।

एक विद्यालय में मुदर्रिस हूँ। तीन मील का फासला जाने में और इतना ही आने में पूरा करना पड़ता है। दिन के चौबीस घंटों में से डेढ़ घंटा इस काम के लिए रोज निकल जाता है। साइकिल पर जाता हूँ, क्योंकि 'बस' उधर जाती नहीं और रिक्शा पर जाने की हैसियत नहीं है।

पर इस मौसम में क्या करूँ ? जाड़े के गिने-चुने कपड़े; वे भी कई साल पहले के बने हुए। जो भी पहन जाऊँगा, खराब हो जायगा और एक रुपया ठुक जायगा 'प्रेस' कराने में। लेकिन जाये बिना काम भी तो नहीं हो सकता; नौकरी है, घर की खेती नहीं कि जब चाहा गये, जब चाहा, न गये।

कुर्सी से उठा, कमरे के द्वार पर खड़ा हुआ कि एक तेज झोंके के साथ आयी कई बूंदों ने इतना जोरदार स्वागत किया कि मुझे अचकचा कर पीछे हट जाना पड़ा।

अब एक नया ख्याल आया। कपड़ा तो खैर कोई न कोई पहन ही जाना पड़ेगा—अच्छा रहे, चाहे खराब हो जाय। कपड़े आखिर होते किस लिए हैं ? शरीर की रक्षा के लिए ही तो ! पर इस सर्राटे की तीर सी चुभती हवा में और इस रिमझिम बरसात में साइकिल पर कैसे जा सकूंगा ?

साइकिल मैंने साल भर पहले ली थी। डालडा के इस युग में मेरी सुबुद्धि सिर्फ उतनी ही दूर साइकिल चलाने की सलाह देती है, जितनी बहुत जरूरी हो। विद्यालय जाने के अलावा इन बारह महीनों में शायद बारह बार भी मैंने साइकिल की सवारी नहीं की है। मेरे मित्रों में से भी सिर्फ एक ने ही केवल दो बार घंटे-दो घंटे के लिए उसकी चाल देखी है। साइकिल माँगने वालों की कमी रही हो, सो बात नहीं। बाहर वालों की बात तो जाने दीजिए, घर में ही आधे दर्जन सगे-

संबंधी मौजूद हैं जिनका मुँह मेरे इनकार कर देने पर कई बार सूज चुका है। इतनी हिफाजत रखने, या यों कहिए कि बेमुरौवती दिखाने पर मैं साइकिल का नयापन बनाये रख सका हूँ।

इस कीचड़-पानी में उस नयी-सी साइकिल पर कैसे जाऊँ? मेरे सामने अब यह भी समस्या आयी। चिंता का कारण साइकिल के नयेपन में कुछ कमी आ जाने का उतना नहीं था जितना इस बात का कि सामने से आती हुई इस हवा में साइकिल चलेगी कैसे! उस पर कड़ाके की सर्दी और साथ-साथ बूँदा-बाँदी भी!

समस्या में ज्यादा देर तक उलझा रहता कि घड़ी पर निगाह पड़ गयी। सिर्फ एक घंटा मेरे पास था; तड़पड़ इरादा कर लिया कि रिक्शा पर ही आज चलो; साइकिल की रक्षा होगी, कीचड़पानी से कपड़ों की हिफाजत होगी; कुछ पैसे जरूर खर्च हो जायँगे, पर आज लावारिसों की तरह लथपथ होकर नहीं, भले मानुसों की तरह ढंग से विद्यालय पहुँचेंगे।

× × ×

तीन-तीन मंजिलों के मकान और बीच में कहीं दो और कहीं तीन गज चौड़ी गली जिसने सूर्य के दर्शन कब से नहीं किये, कोई नहीं कह सकता और जिसका कुछ भाग सूर्य के दर्शन तभी कर पाता है जब बरसात में अगल-बगल का कोई मकान गिर पड़े। गली की सफाई रोज उसी तरह होती है जैसी जाड़े के दिनों में हमारे नवजवान अपनी सफाई करते हैं। उस पर दोनों तरफ के रहनेवाले इतने सौंदर्यप्रिय हैं कि सफाई के नाम को लजानेवाली यह सफाई उन्हें फूटी आँखों नहीं भाती। वे सब इस ताक में रहते हैं कि कब जमादार जाय और कब हम पिछले दिन भर और पिछली रात भर का इकट्ठा किया हुआ कूड़ा ऊपर की खिड़की या दरवाजे से गली में बिखराकर इसको असली हालत पर पहुँचा दें।

बरसात के दिनों में इन गलियों में चलने में बड़ा आनंद आता है। इंच, दो इंच ऊँची कीचड़ में इधर-उधर दबे हुए केले के छिलके चलने वाले के लिए फिसलने का इतना मसाला इकट्ठा कर देते हैं कि हर आठ-दस में एक-दो की तबियत मचल ही जाती है। इससे कपड़ों या शरीर की जो भी गति

बने, इसका परोपकार तो हो ही जाता है कि मनहूसियत से भरा चेहरा लिये चौबीसों घंटे बितानेवाले एक बार तो झूमकर हँस ही पड़ते हैं।

भीगते-भागते, लेकिन कीचड़ में पैर जमाते हुए गली पार की। इन दस मिनटों में सारा ध्यान इसी बात में लगा रहा कि किसी तरह राजी-खुशी सड़क पर पहुँच जाऊँ। एक फर्लांग पर रिक्शा-अड्डा है। 'रिक्शा' का ध्यान आते ही मन में एक प्रकार की ग्लानि हुई—खुद तो रिक्शे में बैठोगे, उसमें जुता हुआ अपने ही वर्ग का आदमी तुम्हें खींचेगा! मानवता का कैसा ऊंचा आदर्श है! फिर इस कड़ाके की सर्दी में, बूँदा-बाँदी में, सर्राटे की हवा में—पैसा दे सकने वाला सब तरह से सुरक्षित और मशक्कत करनेवाला सब तरह से अरक्षित! उस पर धौंस जमाते हुए रिक्शा के सवार का बार-बार कहना—जल्दी कर; क्या सो रहा है? शरीर में जान नहीं है तो चलाता ही क्यों है रिक्शा? जले पर नमक ही नहीं, नीबू में घोलकर मिर्च छोड़ने से भी बढ़कर क्रूरता क्या इन वाक्यों में नहीं है?

रिक्शा पर बैठना मुझे ज्यादा अच्छा नहीं लगता। शायद इसका कारण बचपन के वे संस्कार हैं जिन्होंने सिखाया है कि किसी को सताना नहीं चाहिए। लेकिन कभी कभी यह भी सोचता हूँ कि रिक्शा पर सवारी करना उसके चालक को सताना नहीं है। किसी को सताना तो तब समझा जायगा, जब उसे हमारे व्यवहार से कष्ट हो। रिक्शा पर सवारी करके यदि उसके चालक को उचित पैसे दे दिये जायें तब तो वह आपका अहसान ही मानता है। इसका प्रमाण भी मेरे पास है। मैं अक्सर रिक्शेवाले से पूछ लेता हूँ—क्यों भाई, तुमको जो ढाई-ढाई मन की जिंदा लाशें खींचनी पड़ती हैं, तो तुम सवारियों को कोसते तो नहीं हो?

इस प्रश्न के उत्तर में सबने प्रायः यही कहा है—वाह बाबू, कोसने की क्या बात है इसमें? इसी मजदूरी से बच्चे पल जाते हैं, नहीं तो आज के जमाने में हम लोगों को कौड़ी के तीन नहीं पूछता कोई। फिर यह तो ईमानदारी का सौदा है।

परंतु इस उत्तर से मुझे कभी संतोष नहीं हुआ। मुझे ऐसा लगा कि रिक्शा-चालक की परिस्थिति उससे ऐसा उत्तर दिलाती है; यह उसकी आत्मा का स्वर नहीं है। अंत में एक दिन मुझे सही-सही उत्तर देनेवाला भी मिल गया। दिन

ऐसी ही बूँदा-बाँदी का था। जब मैं घर से चला, तब पानी रुक गया था। लेकिन बदली थी और हवा तीर-सी लग रही थी। उस दिन जो रिक्शा मिला था, उसका चालक बूढ़ा था। मार्ग में मौका देखकर जब मैंने उससे उक्त प्रश्न पूछा, तो उसने उत्तर दिया—बाबू, बुरा न मानिएगा। आपने पूछा है तो दिल की बात कहता हूँ। जो पूरी मजदूरी दे देता है, उसके लिए तो रोम-रोम से दुआ निकलती है; लेकिन जो पैसा मार लेता है, उसको तो···· ···· ···· ····अब क्या कहूँ आपसे, कम से कम उसके लिए दुआ नहीं निकलती।

और जब से यह उत्तर मुझे मिला है, रिक्शेवाले से मोलतोल करना मैंने बंद कर दिया है। सोचता हूँ, दिन भर में दो-चार आने का तो हम लोग पान खाकर थूक दिया करते हैं, तब अगर आना, दो आना रिक्शेवाले को ज्यादा चला जायगा तो कम से कम एक गरीब की आत्मा तो दुआ देगी।

× × ×

अड्डे से दस-पंद्रह गज ही दूर था कि देखा पाँच रिक्शों में से तीन जा चुके हैं। बचे हुए दोनों रिक्शेवाले सर और मुँह से इस तरह पानी निचोड़ रहे थे, जिससे जान पड़ता था कि अभी अभी ही ये सवारी लेकर आये हैं। दोनों की निगाहें एक साथ मुझ पर पड़ीं और मेरी चाल-ढाल से ही उन्होंने भाँप लिया कि आदमी गरजबंदा है। तब उन्होंने परस्पर भेद-भरी दृष्टि से देखा और मेरी निगाह बचाकर कुछ संकेत भी किया। मैं भी उनका मतलब समझ गया, परंतु मुझे जल्दी थी। इसलिए साधारण रीति से ही मैंने उनसे पूछा—अमुक विद्यालय चलना है ?

एक ने उत्तर दिया—एक रुपया होगा बाबू।

मैं जब विद्यालय रिक्शे पर जाता हूँ, आठ आने देता हूँ। खुला रेट है। कभी रिक्शेवाले ज्यादा होते हैं तो छह आने में भी बात तय हो जाती है। आज बूँदा-बाँदी का दिन है तो अधिक से अधिक बारह आने दिये जा सकते थे। इससे अधिक के लिए मैं किसी तरह तैयार नहीं था। इसलिए 'एक रुपया' सुनते ही मैंने पहले रिकशेवाले की तरफ से निगाह हटाकर दूसरे की ओर देखा; परन्तु उसने पूछने के पहले ही उपेक्षा

के साथ में कहा—बाबू, इस आँधी-पानी में हम नहीं जायेंगे, जान थोड़े ही देना है ।

मुझे ऐसा लगा कि जैसे किसी ने भरे समाज में अपमान कर दिया हो । मैंने उसकी ओर घूर कर देखा, परंतु उसने अपना मुँह पहले ही दूसरी ओर कर लिया था । एक निगाह तब मैंने लम्बी सड़क के दोनों ओर डाली, लेकिन कोई और रिक्शा आता नहीं दिखायी दिया । तभी पहले रिक्शेवाले ने कहा—कहिए तो ले चलूँ बाबू ।

दूसरे की बात सुनकर मैं कुछ ऐसा खिसिया गया था कि पहले की 'एक रुपए' वाली बात सुनकर 'बारह आने' कहने का भी मुझे साहस नहीं हुआ । अब पुनः उसका वाक्य सुनकर मेरी कुछ हिम्मत बढ़ी । मैंने कहा एक रुपया तो बहुत है !

रिक्शेवाला—मौसम भी तो देखिए साहब ! जान हथेली पर लेकर चलना होता है, ऐसे मौसम में । जरा सर्दी लगी नहीं कि फौरन निमोनिया होता है ।

बात ठीक थी । मैं निरुत्तर हो गया । परंतु एक रुपया देने का समर्थन मेरी उदारता तब भी नहीं कर रही थी । लेकिन मैं इतना जान गया था कि जब तक दूसरा रिक्शा नहीं आता, 'एक रुपए' की माँग में कमी नहीं की जा सकती और मेरे पास दूसरे रिक्शे की इंतजारी के लिए समय नहीं था । सड़क के दोनों ओर मैंने एक दृष्टि तो अवश्य डाली; लेकिन रिक्शा, ताँगा, कुछ भी आता न दिखायी दिया और हारकर मन ही मन कुढ़ता हुआ मैं रिक्शे पर बैठ गया ।

रिकशेवाले ने एक बार फिर सर और माथे से पानी पोछा और अपनी बनियायन और उसके ऊपर पहना हुआ फटा सूती कुरता निचोड़ कर फिर पहना । कमर से लपेटा हुआ अँगोछा खोलकर मफलर की तरह सर और कान से बाँधा और तब रिक्शे को आगे बढ़ाया । वस्त्रों की कमी के कारण उसकी पीड़ित दीनता ने उसके प्रति मेरी कुढ़न को कुछ कम कर दिया । मैं सोचने लगा—एक सूती, दूसरी, ऊनी—दो बनियायने मैं पहने हूँ । दो स्वेटर, गरम कमीज के ऊपर गरम सूट, जिसमें कोट बंद गले

का है, सर पर टोपी, गले में मफलर और हाथ में दस्ताने—सब तरफ से इस तरह रक्षित हूँ कि मैदान की सूखी सर्दी क्या, पहाड़ी इलाकों की बरफीली सर्दी भी एकाएक मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

परंतु यह रिक्शेवाला ! दो सूती कपड़े पहने है, वे भी फटे हैं, गीले हैं। यह भी इंसान है, इसका भी शरीर हमारी ही तरह हाड़-माँस का है ! परंतु यह ऐसे बरसते पानी और तेज हवा में काम करने को लाचार है; क्योंकि इसको रोज कुआँ खोदना और रोज पानी पीना है। इसे अपना और अपने बाल - बच्चों का ही नहीं, अपने मालिक का भी पेट भरना है।

'मालिक' का ध्यान आते ही मैंने रिक्शेवाले से पूछा—क्योंजी, रिक्शा तुम्हारा है ?

रिक्शाचालक न जाने क्या सोचता चल रहा था। मेरा प्रश्न सुनकर भी सहसा मेरा तात्पर्य समझ नहीं सका। उसके मुँह से इतना ही निकला—ऐं बाबू !

मैंनें अपना प्रश्न दोहराया—रिक्शा तुम्हारा है या किराये का ?

वह बोला—किराये का है बाबू। हमारी हैसियत कहाँ है रिक्शा रखने की ?

कितना देना पड़ता है रोज ?

डेढ़ रुपया। चाहे चलाओ, चाहे न चलाओ, डेढ़ रुपया जरूर भरना पड़ेगा !

मेरी सारी सहानुभूति फिर रिक्शेवाले के लिए उमड़ पड़ी—कितना अत्याचार सहना पड़ता है इसको ! पाँच सौ के रिक्शे पर पैंतालिस मासिक की घर बैठे आमदनी !! अंधेर है या नहीं !!! सहसा मैंने फिर पूछा—घर में कौन कौन है तुम्हारे ?

बूढ़ी माँ है, बीमार बीबी है और चार बदनसीब बच्चे हैं। बारह घंटों से ऊपर रिक्शा चलाकर भी जाड़े के इन दिनों के लिए 'नखास' के बाजार से एक पुराना ऊनी कोट नहीं खरीद पाता बाबू !

इतना लंबा वाक्य कहते-कहते रिक्शेवाले की साँस फूल गयी। वह दम लेने लगा। मैंने समझा—यह कुछ और कहेगा, इसलिए चुप ही रहा। तब भी वह कुछ न बोला। चढ़ाई आ गयी थी। वह उतरकर रिक्शा खींचने लगा। ऐसे अवसरों पर रिक्शे में बैठे रहना मुझे अच्छा नहीं लगता और मैं भी उतर पड़ता हूँ। इसमें दोहरा लाभ होता है—पहले तो जरा हाथ-पैर खुल जाते हैं; दूसरे, रिक्शेवाला भी अहसान मानता है और कभी कभी तो बड़े अदब से बात करता है।

इस समय तक पानी बिल्कुल बंद हो गया था। इसलिए हमेशा की तरह एक बार तो मन में यही आया कि कूदकर रिक्शे के बाहर आ जाऊँ; लेकिन वैसा कर नहीं सका। कारण यह था कि पानी जब तक बरसता रहा, तब तक तो मन में यही विचार करता रहा कि साइकिल छोड़कर रिक्शे पर आना अच्छा रहा, लेकिन अभी आधा मील भी नहीं आये हैं कि पानी रुक गया है। अब तो साइकिल न लाने पर पछतावा होने लगा! ढाई मील अभी चलना है। बीस-पचीस मिनट रिक्शेवाला लगा ही देगा। इतनी देर में घर जाकर साइकिल पर विद्यालय पहुँचा जा सकता है। ऐसा करने पर कम से कम शाम के तो दस-बारह आने बच जायँगे।

इतना सोचते ही एक बार तो जी में आया कि अभी-रिक्शे से उतर कर लौट चला जाय, लेकिन तभी घड़ी पर निगाह पड़ी। पंद्रह मिनट बाकी रह गये थे। काफी तेज चलने पर ही रिक्शा समय पर पहुँच सकता था। तभी मैंने डपट कर कहा—जल्दी चलो जी, सिर्फ पंद्रह मिनट रह गये हैं! देर हो रही है।

रिक्शेवाला तेजी से चलने लगा, परंतु मुझे उसकी चाल नहीं भा रही थी। मुझे उस पर झुँझलाहट आ रही थी।

अपनी मूर्खता पर भी कम कुढ़न नहीं थी। एक रुपया इधर का, दस-बारह आने उधर के—पौने दो की ठुक गयी। इतने में तो इन जाड़े के दिनों में पाव भर बादाम आ सकते थे। हलवा सोहन इस साल नहीं खाया है, आज वही ले लिया जाता। बच्चे रोज मक्खन के लिए मचलते हैं। पौने दो रुपयों में तो उनकी नियत भर जाती! और इस कंबख्त ने तो मुफ्त में ही रुपया मार लिया! तकदीर का कितना सिकंदर है कि पानी भी रुक गया

है ! और तभी फिर कुढ़कर मैंने उससे कहा—जरा जल्दी पैर चलाओ जी, देर हो रही है ।

रिक्शेवाले ने मुँह घुमाकर मेरी ओर देखा । उसके माथे पर पसीना आ रहा था, जो मानों कह रहा था कि एक रुपया तुम दोगे तो मैं भी कम काम नहीं कर रहा हूँ । इस जाड़े में यह पसीना देखा है तुमने ?

परंतु मेरी वणिकवृत्ति अपनी चवन्नी के लिए उसे कोस रही थी—क्योंकि बारह आने देने में मुझे कोई मलाल नहीं होता—और मना रहा था कि एक छींटा ही जोरदार पड़ जाय जिससे सारे पैसे वसूल हो जायें ।

मैं पत्रकार हूँ

मैं छोटे को बड़ा और बड़े को छोटा बनाता हूँ। मैं जनजन का भाग्य-विधाता हूँ। मैं पत्रकार हूँ।

मैं बुरे को भला और भले को बुरा दिखा सकता हूँ। मैं यश दिला सकता हूँ, मैं यश छिना सकता हूँ। मैं ऊपर उठा सकता हूँ, मैं नीचे गिरा सकता हूँ। मैं हँसा सकता हूँ, मैं रुला सकता हूँ। मैं सर्वशक्तिमान हूँ।

साधारण मनुष्य की तो बात क्या, बड़े-बड़े शासक भी मुझसे काँपते हैं। प्रजातंत्र के इस युग में अयोग्य से अयोग्य को मैं कुर्सी पर बैठा सकता हूँ, और योग्य से योग्य को मैं मुख दिखाने लायक नहीं रखता।

मेरे चर्म-चक्षु घर से निकलते ही यंत्र-चक्षु हो जाते हैं जिनसे मोह-ममता, प्रेम-मुहब्बत, स्नेह-संबंध, परिचय-आत्मीयता, सबका लोप हो जाता है, जिनमें रंग बिरंगे शीशे खटके के सहारे प्रत्येक दृश्य को मेरी इच्छानुसार गहरा या चटक, सफेद या रंगीन बनाया करते हैं।

मैं सर्वव्यापी हूँ। जल-थल-नभ सर्वत्र मेरी समान गति है। मेला-ठेला हो, सर्वत्र वैसे ही प्रसन्नता और रौनक छा जाती है जैसी दूल्हे के पहुँचते ही बरातियों और घरातियों से भरे जनवासे में छा जाती है।

ऋषि-मुनियों ने धर्म और नीति-शास्त्र बनाये हैं—मानव-समाज उनसे बाधित रहता है। परंतु मैं सच-झूठ के लौकिक नियमों में बाधित नहीं हूँ और मैं जो लिख देता हूँ. वही सच मान लिया जाता है; क्योंकि मैं पत्रकार हूँ।

जहाँ सुई नहीं जा सकती, वहाँ फावड़ा ही नहीं, ऊँट को भी पार करा देना मेरे बाँयें हाथ का खेल है। राई को पर्वत और पर्वत को राई कर देना तो मेरे लिए वैसे ही खिलवाड़ है जैसे खाली पेटवाले के लिए रसगुल्ले गटक लेना।

बड़े से बड़ा आदमी हो, मेरे सामने अभिनय करने को सदैव लालायित रहता है। मैं किसी को फोटो खींच लूं तो उसको जीवन के लिए नया उत्साह मिल जाता है, किसी की पूरी रिपोर्ट पत्र में निकलवा दूँ तो जैसे वह शतायु होने

का वरदान पा जाता है। किसी की प्रशंसा में संपादकीय लिख या लिखा दूँ तो उसकी सात पुश्तें तर जाती हैं। इसी प्रकार किसी को कुल-दीपक और किसी को कुल-कलंक विख्यात कर देना मेरे लिए उतना ही सरल है जितना धूप के लिए ओस को सुखा देना या पानी के लिए आग को बुझा देना।

मैं घर पर चाय-पानी नहीं कर पाता; क्योंकि इष्ट-मित्र ही नहीं, परिचित अपरिचित, सभी मुझे चाय पिलाने में ही अपने धन का सदुपयोग समझते हैं। घर पर भोजन भी मैं प्रायः अधिक से अधिक एक ही बार कर पाता हूँ; क्योंकि दूसरे समय के लिए निमंत्रण देनेवालों की बात ठुकराकर उनका दिल तोड़ना मुझे शिष्टाचार के विरुद्ध जान पड़ता है।

और मनोरंजन के लिए तो मुझे और मेरे परिवारवालों को ही नहीं, मेरे इष्ट-मित्रों को भी प्रत्येक नाच-थियेटर, नाटक-सिनेमा, संगीत-नृत्य-गोष्ठी में पहुँचने का खुला पास मिला रहता है। इसके बदले में मुझे कभी-कभी सिर्फ अपने कैमरे से लिए जानेवाले चित्रों का, 'रंग' चटक करनेवाला खटका भर दबाना होता है।

प्रातःकाल उठकर भगवान का नाम लेने की बात पुरानी पड़ गयी है। अब तो आस्तिक ही नहीं, नास्तिक तक सोकर उठते ही, सबसे पहले मेरा नाम लेते हैं, मेरी कृति देखते हैं। जब तक वे ऐसा नहीं कर लेते, उनकी आत्मा को शांति नहीं मिलती, उनका चित्त किसी काम में नहीं लगता। अतएव आज यदि कोई प्रातःस्मरणीय है तो मैं हूँ; क्योंकि मैं पत्रकार हूँ।

---

(७) श्रद्धांजलि

बापू के प्रति

बापू !

हम तुम्हें महात्मा कहते थे। यह कोरी चाटुकारी नहीं थी। यह हमारे हृदय की आवाज थी, हमारे रोम-रोम का स्वर था। हम तुम्हारे उपकारों के बोझ से दबे थे। इसलिए हमारे संबोधन में तुम्हारे ऋण की स्वीकृति भर थी, तुम्हारे प्रति कृतज्ञता भर हम प्रकट करना चाहते थे।

हम तुम्हें 'महापुरुष' मानते थे। ऐसा क्यों करते थे, इसका कारण स्वयं हमारी समझ में नहीं आता। परंतु न जाने क्या बात थी, तुम्हें महान् मानने में हमें संतोष मिलता था। हमारे इस 'मानने' में शायद हमारी दुर्बलता की स्वीकृति भी थी। तुम इतने महान् थे कि हम तुम तक पहुँच ही नहीं सकते—शायद यही भावना तुमको 'महापुरुष' मानने के लिए हमें विवश कर देती थी।

तुम थे भी तो अत्यंत महान् ! वीरता, धीरता, गंभीरता, शांति, परोपकार-प्रियता, सरलता, त्याग, दया, उदारता, सहिष्णुता, अहिंसा की भावना, धर्म के प्रति श्रद्धा आदि जिन-जिन महान् गुणों की कल्पना अब तक हम कर सके हैं, वे सब तुममें थे। तब हम तुम्हें साधारण मनुष्य कैसे मानते ? एक तुममें इन सारे गुणों का केंद्रित हो जाना ही सिद्ध करता है कि तुम बड़े थे, पूज्य थे और गुणगान के योग्य थे।

तुमने सत्य, धर्म और अहिंसा का प्रचार किया। स्वयं इन पर विश्वास किया, इनके अनुसार जीवन भर काम किया और दूसरों को भी अपना जीवन सरल, अहिंसामय और धर्मयुक्त बनाने का उपदेश दिया। मन, वचन और कर्म में ऐसी एकता रखनेवाले व्यक्ति संसार में बिरले ही होते हैं। तुम्हारी गणना संसार की ऐसी ही दिव्य विभूतियों में की जाती है।

जीवन भर संसार को तुमने एक ही उपदेश दिया—प्रेम से रहो, एकता से रहो, सहयोग से रहो, सुखी रहो। पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष से तुम्हें घृणा थी। इसलिए एक होकर रहने और दूसरे के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझते हुए जीवन बिताने का तुमने उपदेश दिया।

परन्तु जब हम तुम्हें अपना कहते हैं, तब अपने ही भेद भाव का परिचय देते हैं। तुम्हारे 'अपने' की परिधि में तो सारा संसार आ जाता था। केवल मनुष्य ही नहीं, जीव मात्र तुम्हारे 'अपने' थे। तुम्हारे कार्य भी अपने देश या अपनी जाति के लिए ही नहीं थे। तुम्हारे विचार हम साधारण मनुष्यों की तरह संकुचित नहीं थे। तुम सभी देशों और सभी जातियों के लोगों से प्रेम करते थे और इस तरह तुम संसार को अपने प्रेम और मित्रता के बंधन में बाँधकर सुखी देखना चाहते थे। तुम्हारे आदर्श की यह व्यापकता और हृदय की यह विशालता देखकर कहना पड़ता है कि संसार के कम लोग ही विश्व की भलाई के लिए इस प्रकार सोच सकते हैं और अपने विचारों के अनुसार आचरण करनेवाले तो और भी कम होंगे।

तुम्हारी एक बड़ी विशेषता यह थी कि स्वयं ही अनेक गुणों को अपनाकर संतुष्ट नहीं हुए, अपनी निजी उन्नति में ही तुमने जीवन की सफलता नहीं समझी; तुमने अपने देश की रक्षा की, अपने देशवासियों को भी उन्नति के पथ पर बढ़ने को प्रेरित किया। तुम स्वदेश की नौका के कर्णधार बने और स्वदेशवासियों का उसी प्रकार तुमने उद्धार किया जिस प्रकार कुशल नाविक अपनी नौका के प्राणियों को, लहरों के थपेड़ों से, जल के भँवरों से और जलमग्न चट्टानों से बचाकर, नदी के पार सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देता है।

तुम उस समय अवतीर्ण हुए जब देशवासी दुखी थे। तुम उनके दुख से द्रवित हुए। उनके दुख को तुमने अपना दुख समझा। साधारण मनुष्य तो केवल अपना दुख दूर करना चाहता है, तुमने दूसरों को भी उससे छुटकारा दिलाने का निश्चय किया। दुखियों के प्रति तुम्हारी सहानुभूति कोरी मौखिक नहीं थी। तुमने अपने निश्चय के अनुसार प्रयत्न भी किया और वह प्रयत्न इतना सच्चा था कि हम तुम्हें दुखियों के सुख-सौभाग्य का निर्माण करनेवाला विधाता भी कह सकते हैं।

संसार सुख का साथी है, दुखी से घृणा करता है। सबल का वह आदर-सत्कार करता है, निर्बल को दबाता है, ठुकराये हुए को और ठुकराता है। परंतु तुममें यह बात भी नहीं थी। तुमने किसी गिरे हुए को ठुकराया नहीं, किसी कुचले हुए को दबाया नहीं, किसी दीन, दुखी या भाग्यहीन से घृणा नहीं की। तुम तो इन सबकी भलाई की बात ही सदैव सोचते रहे। ऐसी बातें

सोचनेवाले भी दुनियाँ में कम नहीं होंगे। अनाथों, अपाहिजों और अपमानितों पर बहुतों को दया आती है। परंतु तुम, ऐसे सहृदय और दयालु पुरुषों में भी अग्रगण्य थे। तुमने गिरे और कुचले हुए, दीन और दुखी; भूखे और नंगे पर कोरी दया ही नहीं दिखायी, केवल मौखिक सहानुभूति दिखाकर ही तुमने अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली; तुमने तो उनका दुख दूर करने का प्रयत्न किया। प्रयत्न भी कैसा ? साधारण प्रयत्न नहीं. बल्कि एक व्रत; जीवन भर के लिए उनकी सेवा का व्रत ले लिया; क्योंकि तुम उन्हें उठाना चाहते थे। तुम्हारी इच्छा थी कि संसार में कोई पतित न रह जाय, कोई दीन-दुखी या भूखा-नंगा न रह जाय। इसी तरह तुम उस वर्ग को सुखी बनाने के लिए भी प्रयत्नशील थे, शिक्षित जिसको गँवार और मूर्ख समझता है, धनी जिसका शोषण करता है कुलीन जिसकी छाया को भी अछूत समझता है और एक शब्द में, सारा संसार जिससे घृणा करता है, जिसको मानवता का कलंक समझता है।

निम्न वर्ग को उठाने का जो मार्ग तुमने अपनाया, वह तो और भी विचित्र था। तुमने समझ लिया कि आलीशान महलों में रहकर, बहुमूल्य वस्त्र पहनकर, सुस्वादु भोजन चखकर और मोटरों पर चढ़कर इस वर्ग का उद्धार नहीं किया जा सकता। इसलिए तुमने उक्त सभी सुख-साधनों का त्याग कर दिया।

गौतमबुद्ध ने एक बार पैने तीर से घायल होकर गिरनेवाले हंस को बचाया था। घायल पक्षियों को बचानेवाले भी बहुत हुए हैं, परंतु गौतम उन सबसे अलग थे। कैसे ? उन्होंने उसके शरीर से तीर निकालकर अपने चुभो लिया—यह देखने के लिए कि इसके चुभने की पीड़ा कैसी होती है।

तुम भी तो गौतस के ही अनुयायी थे। संसार की सभी सुविधाएँ भक्तों ने तुम्हारे लिए सुलभ कर दीं थीं। परंतु निम्न वर्ग के उद्धार का जिस दिन तुमने व्रत लिया, उसी दिन से उन सभी को ठुकराकर झोपड़ी में रहना शुरू किया, खादी का उतना ही वस्त्र पहनना शुरू किया और उनके बीच में बसकर उनके सगे बन गये, उनके और अपने बीच के अंतर को ही तुमने मिटा दिया।

तप और व्रत बहुत कठिन कार्य समझे जाते हैं। परंतु ध्यान से देखा जाय तो तुम जीवन भर तप और व्रत में ही लगे रहे। अपनी छोटी से छोटी वस्तु का त्याग करना भी साधारण मनुष्य के लिए ही नहीं, बड़े-बड़ों के लिए बहुत कठिन

होता है; परन्तु तुमने तो हँसते-हँसते अपना सर्वस्व त्याग दिया। यही नहीं, संसार के सुखों और प्रलोभनों का त्याग करके तप, व्रत और साधना में लगे रहने का ढंग क्या है, यह सब भी तुमने हमें सिखा दिया। हम अपनी गिरी हुई स्थिति में, दुखी और परतंत्र जीवन बिताकर ही सुखी थे। तुमने हमारी भूल समझायी, हमें ऊपर उठने की प्रेरणा दी। तुमने बताया कि शरीर और मन को सब तरह से कसना ही तप, व्रत या साधना नहीं है। किसी भी सत्कार्य का निश्चय करना व्रत है, उस निश्चय को पूरा करने के मार्ग में आगे बढ़ते जाना साधना है और मार्ग की कठिनाइयों से विचलित न होना, संकटों और बाधाओं को हँसते-हँसते झेलना ही तप है। इस तरह तुमने छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, सबको व्रती, तपस्वी और साधक बनने के योग्य समझा और उसी के लिए उत्साहित भी किया। ऐसी बातों की शिक्षा देनेवालों की भी दुनिया में कमी कमी नहीं होती। ऐसे लोग दूसरों को उपदेश देने में ही कुशल होते हैं। तुमने शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं समझी, उपदेश देने के चक्कर में तुम नहीं पड़े। तुम जो कुछ सिखाना-बताना चाहते थे, उसके अनुसार स्वयं आचरण करने लगे। तुमने जैसे मन में कहा—अपने कर्तव्य में मुझे जुटे रहना है; जिसे सीखना होगा, सीख लेगा।

और प्रकृति की महानतम शक्तियाँ भी तो यही करती हैं। सूर्य का कार्यक्रम निश्चित है, चंद्रमा का कार्यक्रम निश्चित है, वायु की निरंतरता में कभी बाधा नहीं आती, फूलों का सुगंध बाँटने का सदाव्रत चला ही करता है, लहरों का थिरकना भी बराबर जारी रहता है। ये सब किसी को उपदेश देने के लिए कभी नहीं रुकते, उनको इसके लिए अवकाश ही नहीं मिलता और वे इसकी आवश्यकता भी नहीं समझते।

प्रकृति की इन्हीं महान शक्तियों के समान तुम भी थे। तुमने भी अपना कार्यक्रम बनाने और उसी में जुट जाने का ही अवकाश पाया, दूसरे को समझाकर अपने पीछे चलने के लिए किसी से नहीं कहा—तुम्हारे सेवा-मार्ग में जोर-जबरदस्ती तो थी ही नहीं, वह तो खुशी का सौदा था।

हम समझते हैं कि मानव-प्रकृति का बहुत गंभीर अध्ययन तुमने किया था; उसके सूक्ष्म तत्वों को तुमने समझ लिया था। तुम जान गये थे कि आदमी दूसरों के कहने से जो काम करता है, उसमें पूरी रुचि नहीं लेता या ले ही नहीं

पाता; परंतु जिस बात के लिए उसकी आत्मा उसे प्रेरित करती है, उसकी पूर्ति के लिए बड़े-बड़े कष्टों को भी सहर्ष झेल सकता है। संभवतः इसी रहस्य को समझकर सेवा, त्याग, दया, प्रेम, कर्मण्यता आदि के अनेकानेक कार्य तुम इस तरह अनजान बनकर चुपचाप करते रहे जैसे तुम्हें यह भी न पता हो कि कोई मुझे देख भी रहा है या नहीं। और इसका परिणाम क्या हुआ? जिसने भी तुम्हारी लगन देखी, कार्य का निरीक्षण किया, पद्धति का अध्ययन किया, सुफल को परखा, वही तुम्हारे पीछे चलने लगा, तुम्हारा अनुयायी हो गया, तुम्हारे बनाये पथ पर चलने में गर्व-गौरव का अनुभव करने लगा, तुम्हारे संपर्क में आने को अपना परम सौभाग्य समझने लगा।

और तुमने? ऐसे लोक-सेवकों को केवल मौलिक उपदेश देकर ही तुमने अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझी। स्वयं उनका मार्ग-प्रदर्शन करके, उनके पथ-प्रदर्शक बनकर, उनकी भूलों की ओर ध्यान न देकर, उनकी त्रुटियों को क्षमा करके, सारांश यह कि बड़े प्रेम से, बड़े दुलार से तुमने उनको सेवा-कार्य में आगे बढ़ाया। तुम्हारा समझाने का ढंग ऐसा आकर्षक था कि सब तुम्हारी बात मान लेने में, तुम्हारी आज्ञा का पालन करने में ही अपना कल्याण समझते थे। इसी से लोग तुम्हारी बात में जादू मानते थे, तुम्हारी मुस्कराहट में आकर्षण पाते थे; तुम्हारी दृष्टि में मोहिनी समझते थे।

लोग एक कार्य के पीछे बरसों पड़े रहते हैं। सारा अधिकार अपने हाथ में रखते हैं और चाहते हैं कि दूसरे उनकी अधीनता में काम करें, उनके अधिकारों की माँग करें और भली-भाँति परीक्षा करने का अवसर देते रहें। ऐसे लोग एक काम को भी ठिकाने नहीं लगा पाते। उनके विपरीत, तुमने तो अनेक क्षेत्रों में कई-कई महत्वपूर्ण कार्य कर डाले और प्रति दूसरे-तीसरे वर्ष नया कार्य हाथ में लेते रहे। इसका कारण क्या था? यह कि तुमने कभी अधिकार हथियाने की चेष्टा नहीं की, तुम केवल सेवक बने रहे। कार्य को आरंभ कर देना भर तुमने अपना ध्येय बनाया; पश्चात् उस कार्य से रुचि रखनेवालों में से योग्य व्यक्तियों को छाँटकर तुमने उनको सारा अधिकार सौंप दिया और नये काम की खोज में निकल पड़े। जीवन भर तुम्हारा यही क्रम रहा और इस देश में तुम्हारी लोकप्रियता का यह एक महत्वपूर्ण कारण है।

तुम्हारी इस कार्य-पद्धति को लोग उस समय विशेष रूप से समझ सके

जब भारत स्वतंत्र हुआ। उस समय ऊँचे से ऊँचा पद तुम्हें मिल सकता था; अधिक से अधिक अधिकार तुम अपने हाथ में ले सकते थे और स्वदेशवासियों को इससे प्रसन्नता ही होती; परन्तु तुमने तो यह बात सोची ही न थी। स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए लड़ना तुम्हारा कार्य था। उसमें सफलता मिलते ही तुम उस क्षेत्र से हट गये और लोक-कल्याण के अन्य कार्यों में अपने को लगा लिया।

आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण ने भी ऐसा ही किया था। अपने बुद्धिबल से उन्होंने सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में महान् क्रांति करायी थी। समाज और धर्म के क्षेत्रों में तो अधिकार का प्रश्न उतने महत्त्व का नहीं था जितना राज्य के क्षेत्र में था। सारे भारत के शक्तिशाली, परंतु अत्याचारी, शासकों के शासन का अन्त करने में उनका बहुत बड़ा हाथ था; परन्तु किसी भी राज्य को हस्तगत करने, उसका शासक बनने, शासन-सूत्र हाथ में लेने या उसकी धन-संपत्ति हड़प लेने की बात उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोची। परिणाम यह हुआ कि अत्याचारी राजा का वध करनेवाले श्रीकृष्ण से उसी राज-परिवार के लोग मित्रता करते थे और उसी राज्य की सारी प्रजा उनको अपना शुभचिंतक समझती थी।

बापू, तुम्हारी त्यागपूर्ण कार्य-पद्धति के मूल में हमें तो श्रीकृष्ण का यही आदर्श जान पड़ता है।

संसार में बहुत से प्राणी ऐसे होते हैं जो रूप-रंग, आकृति-प्रकृति और बनावट में तो साधारण मनुष्य जैसे होते हैं; परन्तु कार्य उनके अमानुषी और कभी-कभी तो राक्षसी होते हैं। न उनमें दया होती है, न क्षमा, न उदारता, न श्रद्धा, न भक्ति, न किसी के प्रति प्रीति। ऐसे लोग क्रूरता और पाप के ऐसे कार्य कर जाते हैं, बैर, ईर्ष्या, द्रोह, छल-कपट के ऐसे बीज बो जाते हैं कि समाज का जीवन बहुत अशांत और दुखी हो जाता है; वह त्राहि त्राहि कर उठता है। इन्हें ही हम 'पापी' कहते हैं, 'अत्याचारी' कहते हैं, 'निष्ठुर-निर्दयी' कहते हैं। संसार इनसे घृणा करता है; इनके नाम पर थूकता है। परन्तु इनके प्रति भी तुम्हारे व्यवहार में विशेषता रही। तुमने ऐसे व्यक्तियों से भी कभी घृणा नहीं की, यद्यपि यह ठीक है कि उनके विचारों और कार्यों का समर्थन तुमने कभी नहीं किया।

इसी प्रकार जो भले गुण मनुष्यों में पाये जाते हैं, उनका तुमने सदैव

आदर किया। तुमने उन गुणवानों की प्रशंसा करके उनको सदैव उत्साहित किया और उनके गुणों के प्रचार की भी सदा चेष्टा की। जीवन भर तुमने ऐसे कार्य किये जिनसे दूसरे देशवालों की दृष्टि में भारत का मान बढ़ा। वस्तुतः भारत-माता के तुम ऐसे पुत्र थे जिसे जन्म देकर कोई भी माता अपने को पुत्रवती समझती है।

तुम्हारा नाम संसार के कोने-कोने में फैला है। तुमको हर देश का बच्चा-बच्चा जानता है। किसी दूसरे देश में जाकर वहाँ की जनता की सेवा तुमने नहीं की, वहाँ के समाज को सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं किया; फिर भी दूसरे देश वासी तुम्हें अपना सगा समझते थे। श्रद्धा और भक्ति से तुम्हारे कार्यों का बखान और तुम्हारे गुणों की चर्चा करते थे, एवं आदर और सत्कार से तुम्हारे दर्शन करते थे।

इसका कारण यह था कि तुमने किसी को पराया नहीं समझा, किसी से द्वेष नहीं किया। तुम मानव थे और सबको तुमने मानव ही समझा, मानवता का ही संदेश दिया। संसार को अपना कुटुम्ब समझने की उदारता तुममें थी, जिससे तुम्हारी दृष्टि में सभी तुम्हारे सगे थे, आत्मीय थे। तुमने सबमें एक ही आत्मा के दर्शन किये, सबको आत्म-रूप समझा। दूसरों ने भी तुम्हारे इस उच्चादर्श को समझा, तुम्हारी आत्मा के दर्शन किये और तुम्हारे भक्त हो गये।

दूसरों को शक्ति से ही जीतने का मार्ग संसार जानता है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का ही मन्त्र सब जपते हैं। इस प्रकार की जीत स्थायी नहीं होती। जो बल से दबाया जाता है, वह भी भीतर ही भीतर बलवान बनने की कोशिश करता है, छल-कपट सीखता है और किसी भी तरह बदला लेना और शीघ्र से शीघ्र स्वतंत्र होना चाहता है।

दूसरों को जीतने का यह मार्ग भी तुम्हें नहीं रुचा। तुमने दूसरों को जीता तो अवश्य, परंतु बल से नहीं, अहिंसा या कठोरता से नहीं, अहिंसा और प्रीति से। बल की विजय शरीर पर होती है, तुम्हारी विजय हृदय पर हुई। तुमने दूसरों के दिलों को जीत लिया। तुम्हारा प्रेम का साम्राज्य स्थायी है, वह बढ़ता ही जायगा और दिन-दिन मजबूत भी होगा।

संसार में कम ही लोग ऐसे हुए हैं जिन्हें संसार ने प्यार किया है, आदर दिया है। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद ऐसे ही व्यक्ति थे। जिन महान गुणों के कारण संसार इन महापुरुषों को पूजता है, बापू ! वे तुममें भी वर्तमान थे। अतएव जिस प्रकार ये अलौकिक ईश्वरीय शक्ति से युक्त समझे जाते हैं, पूजे जाते हैं, उसी प्रकार तुम भी अलौकिक शक्ति से युक्त थे, पूज्य थे।

मनुष्य में अच्छाइयाँ होती हैं और बुराइयाँ भी। अच्छे काम वह करता है, बुरे काम भी। भूल-चूक भी उससे होती है। उसके जीवन में, कर्म में, विचार में परिवर्तन भी होता है। समय के साथ-साथ उसकी अवस्था, शक्ति, योग्यता आदि बढ़ती-घटती है। भगवान में ये परिवर्तन नहीं होते। उसमें गुण ही गुण होते हैं, वह अपरिवर्तनशील होता है, न उसका जन्म होता है, न मरण। न उसकी युवावस्था आती है, न बुढ़ापा। उसकी शक्ति भी सदैव एक सी बनी रहती है और उसके नियमों, कार्यों और विचारों में कभी अन्तर नहीं होता।

तुम्हारे सारे गुणों का वर्णन इन पंक्तियों में नहीं किया जा सकता। तुममें इतने गुण थे कि उन्हें कोई भी मनुष्य ठीक-ठीक समझ नहीं पाया। तुमने जिस शक्ति, योग्यता या कुशलता से अपने समय का निर्माण किया—अपने समय के लोगों का पथ-प्रदर्शन किया, वह साधारण नहीं हो सकती। वह अलौकिक थी और इसलिए हम तुम्हें अलौकिक शक्ति-संपन्न महापुरुष कहकर संतोष करते हैं। किसी भी देश के लोग ऐसे महान और पूज्य व्यक्ति पर अभिमान कर सकते हैं। हम भारतवासी भी बापू ! तुम्हारी पूजा करते हैं, तुम पर अभिमान करते हैं। और तुम्हारे सामने श्रद्धा से मस्तक झुकाते हैं।